हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी

अर्थात्

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०, की अवधानता मे
ता० ५-७ मार्च १९३२ को स्वर्गीय
पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा दिये
हुए व्याख्यान।
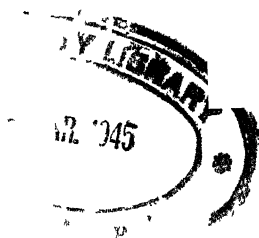
१९४२
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०
इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण १०००
मूल्य १।)

मुद्रक—ए० बी० वर्म्मा, शारदा प्रेस, नया-कटरा, प्रयाग

परिचय

यह लिखते हुए बड़ा दुख. होता है कि प्रस्तुत पुस्तक स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा जी की अंतिम साहित्यिक कृति है। इसमें एकत्र की गई सामग्री हिन्दुस्तानी एकेडमी की तीसरी कान्फ्रेंस के अवसर पर ५, ६, ७, मार्च १९३२ को व्याख्यान-रूप मे पढ़ी गई थी। स्वर्गीय पंडित जी का यह विचार था कि छपने से पूर्व इस पर एक दृष्टि डाल लें। परन्तु काल की कुटिल गति ने उनकी इस इच्छा को पूर्ण न होने दिया।

इलाहाबाद में व्याख्यान देने के कुछ दिनों बाद आप ज्वालापुर चले गये थे। वहाँ आप पर प्लेग का आक्रमण हुआ। बीमारी की दशा में ही आप अपनी जन्मभूमि, नायक-नगला, ज़िला बिजनौर, लाए गए। वहीं पर विगत ७ अप्रैल १९३२ को आप का देहान्त हो गया। जिस समय हमें इस दुर्घटना का समाचार मिला सहसा उसपर विश्वास न हुआ। क्योंकि इसके दो सप्ताह पूर्व पंडित जी इलाहाबाद में थे और शरीर और मन से खूब स्वस्थ थे।

पंडित पद्मसिंह शर्मा जी की मृत्यु द्वारा हिन्दी संसार को बड़ी क्षति पहुँची है। संस्कृत के अतिरिक्त आप हिन्दी और उर्दू के प्रकांड पंडित थे। समालोचना के क्षेत्र में आप का विशेष आदरणीय स्थान था। आपकी काव्यमर्मज्ञता प्रसिद्ध थी। हिन्दी की आप ने लगभग तीस साल तक अमूल्य सेवा की है।

आपका जन्म सं० १९३३ वि०, फाल्गुन सुदी १२ तदनुसार २५ फरवरी, १८७७ ई० को हुआ था। आपके पिता श्रीयुत उमरावसिंह जी अपने गाँव के मुखिया, नंबरदार और प्रभावशाली प्रतिष्ठित पुरुष थे। उन्होंने ही अपने पुत्र का विद्यारंभ कराया। यह आर्यसमाजी विचारों के

तथा संस्कृत के पक्षपाती थे। अतएव पद्मसिंहजी को उन्होंने कई पंडित अध्यापक रखकर संस्कृत का ही अध्ययन कराया, 'सारस्वत,' 'कौमुदी,' 'रघुवंश' आदि की घर पर ही शिक्षा पाकर सन् १८६४ में कुछ समय तक स्वर्गीय पंडित भीमसेन शर्मा इटावा-निवासी की पाठशाला में प्रयाग में आपने 'अष्टाध्यायी' पढ़ी। फिर बनारस, मुरादाबाद, लाहौर और जालंधर में भी आपने संस्कृत का अध्ययन किया और बीच बीच में घर पर रहकर उर्दू-फ़ारसी का अभ्यास एक मुन्शी और दूसरे मौलवी साहब से किया।

सन् १९०४ मे कुछ दिनों तक आपने गुरुकुल काँगड़ी में पढ़ाने का काम किया और यहीं पर स्वर्गीय मुशीराम जी के 'सत्यवादी' साप्ताहिक पत्र के सम्पादकीय विभाग मे रहे। सन् १९०८ में आप 'परोपकारी' मासिक पत्र के सम्पादक होकर अजमेर गए। 'अनाथरक्षक' का भी संपादन कुछ काल तक किया।

सन् १९०९ में आप ज्वालापुर महाविद्यालय में आए और १९१७ तक आपका सम्बन्ध इस संस्था से रहा। आप महाविद्यालय में पढ़ाने के अतिरिक्त 'भारतोदय' का सपादन करते रहे जो पहिले मासिक था बाद में साप्ताहिक हो गया था। आप महाविद्यालय के मंत्री भी रहे।

सन् १९१७ मे शर्मा जी के पिता जी का देहान्त हो गया। इस कारण आपको महाविद्यालय छोड़कर घर जाना पड़ा।

सन् १९१८ में आप बनारस के ज्ञानमंडल से सम्बद्ध हो गए और वहाँ से प्रकाशित कई पुस्तकों का आपने सम्पादन किया। यहीं से आपका बिहारी पर प्रसिद्ध सजीवनभाष्य प्रकाशित हुआ। सन् १९२० में आप युक्तप्रांतीय छठे हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति हुए। सन् १९२३ में आपको अपने सजीवनभाष्य पर हिंदी साहित्य सम्मेलन से मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान हुआ।

सन् १९२८ में आप मुजफ़्फरपुर में होनेवाले अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य सम्मेलन के भी सभापति हुए। दूसरे वर्ष आपने अपने आलोचनात्मक लेखों का मूल्यवान् संग्रह 'पद्मपराग' प्रथम भाग प्रकाशित कराया। आप इसका दूसरा भाग शीघ्र प्रकाशित करने के उद्योग में थे।

आपके अंतिम दिनों मे आपका एकेडेमी से घनिष्ट संबंध हो गया था, उसके कार्यों में आप विशेष दिलचस्पी लेते थे। हमारे विचार मे प्रस्तुत पुस्तक का पंडित पद्मसिंह शर्माजी की रचनाओं में विशेष महत्व का स्थान है। हम आशा करते हैं कि हिंदी के विज्ञ पाठक इसका समुचित आदर करेंगे।

ताराचंद
जनरल सेक्रेटरी

१६-८-३२

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी

नाम

"पादाङ्गं सन्धि-पर्वाणं स्वर व्यञ्जन-भूषितम् ।
यमाहुरक्षरं विप्रास्तस्मै वागात्मने नमः ॥"

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का झगड़ा कोई सौ बरस से चल रहा है, आज तक इसका फ़ैसला नहीं हुआ कि इनमे से भाषा का कौन-सा रूप राष्ट्र भाषा समझा जाय और कौन-सी लिपि राष्ट्र-लिपि ठहरा ली जाय।

हिन्दीवाले चाहते हैं कि ऐसी विशुद्ध भाषा का प्रचार हो जिसमे संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राचुर्य रहे, और यदि सरलता अपेक्षित हो तो विशुद्ध तद्भवों से ही काम लिया जाय, विदेशी भाषा के शब्दों का भरसक बहिष्कार हो, प्रत्युत जहाँ आवश्यकता विवश करे वहाँ संस्कृत से ही पारिभाषिक शब्द भी गढ़ लिये जायँ। कुछ विशुद्धतावादियों के मत में तो 'लालटेन' का प्रयोग करना अशुद्धि के अन्धकार मे पड़ना है, उसके स्थान में वह 'दीप-मन्दिर' या 'हस्त-काचदीपिका' का प्रकाश अधिक उपयुक्त समझेंगे।

उर्दूवाले नये-नये मुअर्रब और मुफर्रस अलफ़ाज़ तक से गुरेज़ करते हैं और उनके बजाय अरबी और फारसी की मुस्तनद लुग़ात से इस्तलाहात नौ-ब-नौ से अपने तर्ज़े-तहरीर में ऐसा तसन्नो पैदा करते हैं कि उनका एक एक फिक़रा 'ग़ालिब' के बाज़ मुशकिल मिसरे की पेचीदगी पर भी ग़ालिब आ जाता है और बसा औक़ात अलफाज़ की नशिस्त ऐसी होती है कि जुमले के जुमले महज़ इतनी बात के मोहताज होते हैं

कि ख़ालिस फारसी (अजमी) शक्ल अख़्तियार करने में सिर्फ हिन्दी अफ़आल को फारसी अफआल में तबदील कर दिया जाय और बस।

विशुद्ध हिन्दी और फसीह उर्दू-ए-मुअल्ला की एक दरम्यानी सूरत का नाम "हिन्दुस्तानी" कहा जाता है, जिसमें सकील और ग़ैर-मानूस अरबी फारसी अलफ़ाज़ और दुरूह तथा दुर्बोध संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से जहाँ तक हो सके बचने की कोशिश की जाती है और इस पर ध्यान रक्खा जाता है कि नित्य के कारबार मे जो शब्द और मुहावरे बोलचाल मे काम आते हैं वही पोथियों मे और अख़बारों मे भी बरते जायँ।

इन तीनों रूपो मे एक-एक कठिनाई है, विशुद्ध हिन्दी और खालिस उर्दू, पुस्तकों और समाचार-पत्रों के बाहर, बहुत ही कम काम मे आती है। पण्डितों के व्याख्यान और मौलवियों के खुतबे मुश्किल से सुननेवालों की समझ मे आते हैं, और इनका दायरा बहुत ही महदूद है—क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। हिन्दुस्तानी मे यह कठिनाई है कि शास्त्रों के गूढ़ और गहन विषयों पर जब कभी कोई ग्रन्थ या लेख लिखना पड़ता है तो लेखक अपने शब्द-भण्डार को काफ़ी नहीं पाता और अपने 'हिन्दुस्तानी' के दायरे को छोड़कर कभी उसे ख़ालिस उर्दू की तरफ और कभी विशुद्ध हिन्दी की ओर झुकना पड़ता है और उनसे परिभाषाए या इस्तलाहे उधार लेनी पड़ती हैं।

ख़ालिस और विशुद्ध फिरके और सम्प्रदाय वाले जनता या अवाम को इतना ऊँचा उठाना चाहते हैं कि उनकी मामूली बोलचाल ऐसी फ़सीह और परिमार्जित हो जाय कि बोली जानेवाली और लिखी जानेवाली भाषा मे भेद न रहे। हिन्दुस्तानी के पैरो यह दावा करते हैं कि बोल-चाल की भाषा स्वाभाविक रास्ते पर चलेगी, बनावट से वह जबरदस्ती ऊँचे नहीं उठाई जा सकती। विशुद्ध पक्षवाले हिन्दुस्तानी की यह निर्बलता बतलाते हैं कि उसका भण्डार इतना रीता है की वैज्ञानिक ग्रन्थों की रचना तो क्या उसमें उच्च कोटि की कविता भी नहीं हो सकती—वह विशेष

प्रकार की अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों के प्रकाशन का साधन नहीं बन सकती— खयाल अपने ज़ोर मे मनचाही ऊँची उड़ान नहीं ले सकते; हिन्दुस्तानी मे कुछ स्वाभाविक कविता हो सकती है पर वह अनन्त की ओर दौड़ नहीं लगा सकती,—अपने सकीर्ण-क्षेत्र मे ही उछल कूद कर रह जाती है। ऐसी दशा मे "हिन्दुस्तानी" भाषा प्रमाण या आदर्श मान ली जाय, तो साहित्य और ज्ञान-विज्ञान का सर्वसाधारण से कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा। सक्षेप मे वर्तमान झगड़े का यही स्वरूप है।

हमारे देश मे विदेशियों से व्यवहार व्यापार और सङ्घर्ष हज़ारों बरस से चला आ रहा है, और उनमे भी मुसलमानों से विशेष रूप से, लगभग एक हजार साल से, सम्बन्ध हो गया है। मेरी समझ में जो लोग केवल राजनीतिक सम्बन्ध या सियासी ताल्लुक़ात पर ही ज़ोर देत हैं, वह भूलते हैं। मुसलमानो से, सामाजिक और व्यापारिक सम्बन्ध, राजनीतिक की अपेक्षा अधिक रहा है। लड़ाइयाँ निरन्तर नहीं होती रहतीं और राज-काज भी हर शहर और हर बस्ती मे इतना सार्वजनिक प्रभाव डालने वाला और व्यापक नहीं हुआ करता, परन्तु बाहर से आकर बस जाने वाले विदेशी, बस्तियों के भीतर कभी बिलकुल अलग अलग—चुपचाप मौन साधकर—नहीं रह सकते। अपने पड़ोसियों से मेल-जोल, लेन-देन, बनिज-व्यापार कारबार और व्यवहार किये बिना उनका काम नहीं चल सकता, और यह सब कुछ मूक या नीरव भाषा में होना असम्भव है। इस प्रकार के सम्बन्ध अधिक व्यापक, अधिक प्रभावशाली और निरन्तर बने रहने वाले— चिरस्थायी या देरपा—होते हैं, इनका प्रभाव भाषा पर स्थायी और अमिट होता है। इसी लिये हमारी यह सहेतुक धारणा है कि राजनीतिक की अपेक्षा सामाजिक सम्बन्ध का भाषा के ऊपर बहुत गहरा असर पड़ता है। यह बात मैं मानता हूँ कि साधारण श्रेणी के विदेशियों से

सब से अधिक सम्पर्क, सेना वाली बस्तियों और बाज़ारों मे होता है। परन्तु साथ ही यह बात भी याद रखनी चाहिये कि जब विदेशियों की एक बड़ी संख्या कहीं आकर बस जाती है, तो इसका काम सिर्फ सेनाविभाग में नौकरी करने से नहीं चल सकता; फिर ऐसी बस्तियों मे सिपाहियों के सिवाय पेशेवर, रोज़गारी, मज़दूर, किसान और दफ़्तरों मे काम करनेवाले अमले भी रहते ही हैं, उन सब का भी भाषा पर सम्मिलित प्रभाव पड़ता है।

फ़ारसी, अरबी, तुर्की, पुर्तगाली और फिरगी शब्द, बँगला, मराठी, गुजराती आदि और भाषाओं में भी मिले-जुले पाये जाते हैं। जहाँ इनकी सख्या बहुत बढ़ी हुई है, वहाँ इनके अधिक प्रयोग की शैली भी पृथक् हो गई है। जैसे गुजराती में हिन्दू-गुजराती के साथ साथ, पारसी गुज़राती की भी एक पृथक् शैली चलती है, जिसमें फारसी शब्दों की बहुतायत है। सौभाग्य से वहाँ लिपि-भेद का प्रश्न कभी पैदा ही नहीं हुआ, नहीं तों शायद हिन्दी उर्दू का-सा झगड़ा वहाँ भी खड़ा हो जाता। बँगला में, नित्य की बोलचाल मे, 'दरकार,' 'पोशाक,' 'आईना,' 'बालिश,' इत्यादि फारसी के सैकड़ों शब्द काम मे आते हैं। 'आलमारी,' 'बासन' (बरतन), 'बजरा' (डोंगी), 'बिस्कुट,' 'काजू' (फल), 'फ़ीता,' 'गोदाम,' 'गिरजा,' 'इगला(रा)ज' (अँगरेज़), 'जुलाब,' 'जानाला' (जगला), 'नीलाम', 'लेबू' (नीबू), 'भारतौल' (हथौड़ा), 'मास्तूल' (मस्तूल), 'पादरी', 'पिस्तौल', 'तामाक' (तमाकू), 'बियाला' (बाजा), 'अचार' (अचार चटनी), 'चाबी' (कुंजी), 'तौलिया,' 'कुर्त्ता' आदि अनेक पुर्तगाली शब्द, जो बँगला में प्रचलित हैं थोड़े से हेर-फेर के साथ हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि अन्य भारतीय भाषाओं मे भी व्यवहृत होते हैं। बात यह है कि विदेशियों का सम्पर्क, जिस प्रान्त में जितनी कमी-बेशी के साथ रहा है, उसी हिसाब से उन-उन प्रान्तों की बोलियों में विदेशी शब्द भी घुल-

मिल गये हैं। भारत की कोई प्रान्तीय भाषा ऐसी नहीं है जिसमे विदेशी शब्दों की एक अच्छी सख्या शामिल न हो। यह सब कुछ होते हुए भी किसी विदेशी भाषा ने ऐसी प्रबल चढाई हमारे देश पर नहीं की है कि किसी देशी बोली को एकदम निकालकर बाहर कर दे और ख़ुद उसकी जगह ले ले। जिस तरह विदेशी आकर बस जाता है और अपनाए हुए देश की भाषा, संस्कृति, चाल-ढाल, रीति-रिवाज, वेष-भूषा ग्रहण कर लेता है, उसी तरह उसके साथ आये हुए बाहरी शब्द भी अङ्गीकृत देश के शब्दों का रग रूप ग्रहण करके उसके व्याकरण की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह, चाहे वह विजयी जातियों के साथ ही क्यों न आये हों, पर विजित देश की शब्द-राशि मे मिलकर अपनी पृथक् सत्ता को गँवा ही बैठते हैं, या यों कहना चाहिए कि देशी भाषा के निरन्तर आक्रमण, सङ्घर्ष और घेरघार से विजित होकर—हार मानकर—आत्म-समर्पण कर देते हैं और 'यथानियम अपनी' शुद्धि कराकर देशी चोला धारण कर लेते हैं।

ख़ालिस उर्दू के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जो अपने पूर्व रूप को एक दम खो बैठे हैं—अपने पहले वाच्यार्थ से अब कोई सरोकार नहीं रखते—बल्कि कइयों का तो रूप ऐसा बिगड़ गया है कि यह पहचाने तक नहीं जाते कि किस देश से आये हुए हैं, और किस जाति या वंश के विभूषण हैं। कई की सूरत शकल तो बदस्तूर वही है पर मतलब-मानी में कहीं के कहीं जा पहुँचे हैं। इसके कुछ उदाहरण—

"फ़ैलसूफ़" यूनानी शब्द है, अरबी में हकीम का और अगरेजी में फ़िलासफर या डाक्टर का जो अर्थ है वही यूनानी मे इसका है, पर उर्दू में आकर ग़रीब 'मक्कार' और दग़ाबाज बन गया! फैलसूफी = मक्कारी!

"ख़सम"—अरबी में प्रतिद्वन्दी या शत्रु को कहते हैं। उर्दू में

इसने प्रियतम पति का स्थान ग्रहण कर लिया, शत्रु से परम मित्र हो गया ! रूप वही है पर अर्थ मे कितना अन्तर है !

"सैर" "तमाशा"—अरबी में फ़क़त रफ़्तार (गति-सामान्य) को कहते हैं। उर्दू में कहते हैं, "चलो बाग़ की सैर देख आयें।" अजब तमाशा है !

"ऐसे में चलिये कीजे तमाशा अक्सर परियाँ आई हैं।"
"आ यार चलके देखें बरसात का तमाशा।" (इन्शा)

"तकरार"—अरबी मे दुबारा कहने (पुनरुक्ति) या काम करने को कहते हैं, उर्दू मे 'तकरार' लड़ाई-झगड़ा है !

"ख़ातिर"—अरबी फारसी मे दिल या ख़याल के मौक़े पर बोलते हैं। उर्दू मे कहते हैं, इतना हमारी ख़ातिर से मान जाओ; या उनकी बड़ी ख़ातिर की।

"दिल की ख़ुशी की ख़ातिर चख डाल माल धन को,
गर मर्द है तू आशिक़ कौड़ी न रख कफ़न को।" (नज़ीर)

"रोज़गार"—फ़ारसी मे ज़माने को (समय या काल) को कहते हैं; हिन्दी मे 'रोज़गार' नौकरी-धन्धा है।

"ख़ैरात"—अरबी शब्द है यानी नेकियाँ। उर्दू मे कहते हैं कुछ 'ख़ैरात' दो, अर्थात् दान-पुण्य करो।

"मुफलिस"—फ़ारसी में कगाल को कहते हैं, पर कलकत्ते मे उसे कहते हैं जिसके स्त्री न हो। जब कोई किसी मकान मे भाड़े के लिए कमरा या कोठरी तलाश करता है, तो घरवाल पूछता है—'आप गृहस्थ हैं या मुफ़लिस ?' इस मुफ़लिसी के मारे कितने ही बेचारों को घर भाड़े पर नहीं मिलता।

"पावरोटी"—डबल रोटी को कहते हैं। कारण यह है कि पुर्तगाली भाषा में 'पाओ' रोटी का नाम है। परन्तु हमारी भाषा मे 'पाओ'

शब्द 'पाव' के रूप में एक ख़ास क़िस्म की रोटी का नाम पड़ गया। 'पाव' के साथ 'रोटी' का प्रयोग पुनरुक्ति है, पर इसका प्रचार हो गया है। सिर्फ़ पाव कहने से रोटी कोई न समझेगा। इत्तफ़ाक़ से डबल रोटी, जिसके असली मानी मोटी और फूली हुई रोटी के हैं, शायद यह अर्थ रखता है कि 'पावरोटी' में 'रोटी' शब्द डबल यानी दो बार आया हुआ है!

पुर्तगाली "फाल्टो" के मानी हमारे 'फालतू' में ज्यो के त्यो हैं, पर उच्चारण बदल गया है।

इसी तरह 'डिगरी', 'कोरट', 'अपीलाट', 'कलट्टर', 'डिपटी', 'कमिश्नर', 'सुपरडन्ट,' 'कप्तान,' 'कमीदान,' 'कराबीन', 'इस्कूल,' 'लम्प,' 'माचिस,' 'करासीन', 'अन्जन,' 'सिगल,' 'पतलून,' 'बास्कट,' 'क्लर्क,' इत्यादि सैकड़ों अँगरेज़ी शब्द घिस पिस कर—बाना बदल कर—हमारी भाषा में आ गये हैं। अब इन्हें इनके उसी पूर्व रूप मे धकेलना—हिन्दी या उर्दू मे भी इनका वही उच्चारण करना, जो असल अँगरेजी रूप मे है—उलटी गङ्गा बहाना है, क्योंकि यह शब्द अब अँगरेज़ी नहीं रहे, हिन्दुस्तानी उच्चारण की छाप लगाकर हिन्दुस्तानी बन गये हैं, हिन्दुस्तानी मे इनका यही रूप और उच्चारण शुद्ध और सही है।

इसी प्रकार अरबी फारसी के वह शब्द, जो हिन्दी या हिन्दुस्तानी मे आ गये हैं, उनका वही रूप शुद्ध है जिसमे वह बोले जाते हैं। उनके असल रूप मे सही उच्चारण करना सर्वसाधारण के लिये सम्भव भी नहीं है; जैसे—'स्वाद' और 'से' या 'ज़े,' 'ज़ाल,' 'ज़ो', और 'ज़्वाद' वाले शब्दों का सही तलफ़्फ़ुज़ मामूली हिन्दुस्तानी मौलवियों के लिये मुश्किल है, सर्वसाधारण पढ़े-लिखों की तो बात ही क्या है। इसलिये, यदि, हिन्दुस्तानीपन का ध्यान रक्खा जाय तो उच्चारण-भेद के कारण जो झगड़ा भाषा मे पैदा हो गया है, वह आसानी से बहुत कुछ मिट सकता है। लेकिन दिक़्क़त यह है कि असूल के तौर पर—सिद्धान्त

रूप में—इस बात को ठीक मान लेने पर भी इस पर अमल या व्यवहार नहीं हो रहा, 'पचों का कहना सिर-माथे पर, पर परनाला वहीं बहेगा' वाली बात हो रही है ? केवल विदेशी भाषाओं के शब्दों का उच्चारण भेद ही झगड़े का कारण नहीं है, अपनी भाषा के ठेठ हिन्दुस्तानी शब्दों के बारे में भी यही बात है। प्रान्तीय भेद के कारण एक ही शब्द भिन्न-भिन्न रूप में बोला जाता है यद्यपि लिखने मे उसका एक ही रूप रहता है पर बोलने में लहजा या टोन जुदा-जुदा होती है। यह बात कुछ हमारी हिन्दी ही के सम्बन्ध में नहीं है, सस्कृत और अँगरेज़ी के उच्चारण मे भी है। बगालियों का संस्कृत उच्चारण बगला ढँग का होता है, दक्षिणियों का दक्षिणी ढंग का और मदरासियों का इन दोनों से जुदा अपने ढँग का। राजशेखर ने अपनी काव्य मीमासा मे संस्कृत और प्राकृत के उच्चारण-भेद पर बहुत कुछ लिखा है। किस प्रान्त के लोग प्राकृत का उच्चारण अच्छा करते हैं और किस जगह के सस्कृत का। इस पर ख़ूब बहसकर के सस्कृत और प्राकृत के लिये पाचाल प्रान्त तथा संयुक्त प्रदेश (मध्यदेश) वालों का उच्चारण आदर्श माना है।* जैसे सय्यद इन्शा ने उर्दू के लिये दिल्ली वालों का।

---

* मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां
सम्पूर्णवर्णरचनो यतिविभक्तः।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः ॥ (का० मी० ७ अध्याय)
"गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्ये मध्यदेश निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः ॥"
(का० मी० १० अ०)

सय्यद इन्शाअल्ला ने 'दरिया-ए-लताफ़त' में उर्दू शब्दों के उच्चारण-भेद पर उदाहरण दे देकर बहुत विस्तार से बहस की है—मिट्टी और मट्टी, हरन और हिरन, मुहल्ला और महल्ला, छिपना और छुपना, खिलना, खुलाना और खलाना, ढाँकना, ढाँपना, थाँबना, थामना, चाकू, चाक्, लोन, नोन, दुगना, दूना, कभी, कधी, य, यू और या, वो, वह और वुह, उसको और उसकू, मिंह और मेंह, एसी और ऐसी,—मैं, मे और मीं, में और मैं, कहीं और कहूँ, तुम और तम, हिलना और हलना, रलना और रुलना, घिसना और घसना, लडकई, लड़काई, लड़कापन, लड़कपन, पुर और पूर, मुहान और मूहान, यहाँ और यहाँ, प्यारा और पियारा, मुआ और मरा, इत्यादि बहुत से शब्द हैं, जिनमे उच्चारण-भेद या प्रान्तीयता का रूप-भेद ही झगड़े का सबब है। इन्शाअल्ला ने इन शब्दों के उदाहरण देकर उर्दू या ग़ैर उर्दू का फैसला किया है। इनमें से जिस शब्द का जो उच्चारण देहली मे प्रचलित है (या था), उसे सही या अहलेज़बानें की उर्दू माना है, बाकी को ग़लत उर्दू या टकसाल बाहर की बोली कहा है। साहित्यिक वा परिष्कृत भाषा के लिये स्थान विशेष की भाषा को आदर्श मानना पड़ता है, जिस प्रकार अंगरेज़ी भाषा के लिये पार्लमेंट की भाषा आदर्श मानी जाती है। इसी तरह उर्दू कविता की भाषा का आदर्श देहली की ज़बान मानी गई। पर भाषा का यह आदर्श नियन्त्रण बोलचाल की भाषा के लिये ठीक और मुनासिब नहीं माना जा सकता। सय्यद इन्शा ने तो सारी देहली की भाषा को भी फसीह उर्दू या 'उर्दू-ए-मुअल्ला' नहीं माना। 'उर्दू-ए-मुअल्ला' या लाल क़िले के आसपास की बस्ती—कुछ गिने चुने मुहल्लो की, फिर उनमें भी कुछ ख़ास लोगों की, जो देहली के क़दीम बाशिन्दे 'शरीफ' और 'नजीब'-- (जिनके माँ बाप दोनों देहली के पुराने बाशिन्दे) हैं, उन्हीं की भाषा को उर्दू माना है। देहली मे जो बाहर के लोग इधर-उधर से आकर बस गये हैं, उनकी भाषा को भ्रष्ट या टकसाल बाहर की ज़बान

कहा है। बाहर वालों की बोली पर खूब फब्तियाँ उड़ाई हैं, सख़्त कड़ी चुटकियाँ ली हैं। देहली के गिने-चुने लोगों की भाषा को ही यदि उर्दू कहा जाय तब तो यह ठीक है—और इन्शा ने इसी दृष्टि से इस पर विचार किया है—पर उर्दू से यदि देश भाषा या 'हिन्दुस्तानी' मुराद ली जाय, जैसा कि वह है, तो इस सकुचित दृष्टि को छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि भारत भर के सब उर्दू बोलने और लिखने वाले 'दिल्ली के रोड़े' नहीं बन सकते।* हिन्दुस्तान एक बहुत बडा मुल्क—महादेश है, वह

---

* उर्दू के धनी तो मौलाना 'हाली' को भी (जिनकी सारी उम्र देहली में रहते बीती थी, और 'ग़ालिब' और 'शेफ़्ता' जैसे बाकमाल बुजुर्गों के सत्सङ्ग और सोसाइटी में रहने का जिन्हे निरन्तर सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और जो स्वय एक आदर्श और उच्चकोटि के क्रान्तिकारी कवि थे, सिर्फ़ इस क़सूर के कारण कि उनका जन्म दिल्ली में न होकर पानीपत मे हुआ था यानी वह दिल्ली के रोडे न थे)—उर्दू-ए-मुअल्ला का मालिक या फ़सीह और टकसाली उर्दू लिखने वाला नहीं मानते थे। हाली ने 'दिल्ली की शाइरी का तनज़्ज़ुल' शीर्षक कविता में, जो यहाँ उद्धृत की जाती है, इसी 'दुर्घटना' का उल्लेख किया है, जो सुनने लायक़ है—

इक दोस्त ने हाली के कहा अज़ रहे इन्साफ़,
करते हैं पसन्द अहले-ज़बां उसके सुख़न को।
चन्द अहले-ज़बाँ जिनको कि दावा था सुख़न का,
बोले कि नहीं जानते तुम शेर के फ़न को।
शाइर को यह लाज़िम है कि हो अहले ज़बाँ से,
हो छू न गई ग़ैर ज़बाँ उसके दहन को।
मालूम है हाली का है जो मौलिदोमन्शा,
उर्दू से भला वास्ता हज़रत के वतन को?

सब दिल्ली के चन्द मुहल्लों में नहीं समा सकता। किसी करामात से यह नामुमकिन बात मुमकिन हो भी जाय—सारे हिन्दुस्तान के सब उर्दू बोलने वाले, 'उर्दू-ए-मुअल्ला' और उसके पास के मुहल्लों मे किसी तरह समा भी जाँय, तो भी इस हालत में वह 'नजीब' और 'शरीफ' की उस तारीफ मे तो दाख़िल न हो सकेंगे, जो इन्शा ने की है। अहले ज़बान या उर्दू की फसाहत के फैसले मे इन्शा ने इरशाद फरमाया है—

"लेकिन असलश् शर्तस्त कि नजीब बाशद, यानी पिदरो मादरश् अज़ देहल बाशन्द, दाख़िल फ़ुसहा गश्त।"

"لیکن اصلش شرط است کہ نجیب باشد یعنی پدر و مادرش از دهلی باشند داخل فصحا گشت"۔

उर्दू के धनी वह हैं जो दिल्ली के हैं रोड़े,
पंजाब को मस उससे न पूरब न दकन को।
बुलबुल ही को मालूम हैं अन्दाज़ चमन के,
क्या आलमे-गुलशन की ख़बर ज़ाग़ो-ज़ग़न को?
हाली की ज़बाँ गर बमिसले नहरे-लबन हो,
ख़ालिस न हो तो कीजिये क्या लेके लबन को।
हरचन्द कि सनअत से बनाये कोई नाफ़ा,
पहुँचेगा न वह नाफ़-ए-आहू-ए ख़ुतन को।
माना कि है बेसाख़्तापन उसके बयाँ मे,
क्या फूंकिये इस साख़्ता बेसाख़्तापन को।
ये दोस्त ने हाली के सुनी जब कि तअल्ली,
हक़ कहने से वह रख न सका बाज़ दहन को।
कुछ शेर थे याद उनके पढे और ये पूछा—
क्यों साहबो! इज़्ज़त इसी उर्दू से है फन को?
सच ये है कि जब शेर हों सरकार के ऐसे,

यानी, मुस्तनद और सही उर्दू उसी की समझी जायगी जो 'नजीब' (कुलीन) होगा अर्थात् जिसके माँ बाप दोनों दिल्ली के बाशिन्दे हों, उसी का शुमार फसीहों में होगा।

"फ़साहत दर देहली हम नसीब हर कस नेस्त, मुनहसिर अस्त दर अशख़ास मादूदा।" (२२ पृ०)

"فصاحت در دهلی هم نصیب هرکس نیست منحصر است در اشخاص معدود"-

अर्थात्, देहली में भी हर किसी के हिस्से में फसाहत नहीं हैं, चन्द चुने हुए आदमियों को ही नसीब हुई है।

लेकिन इन्शा का यह फतवा उन्हीं के वक्त की, और वह भी सिर्फ शहर की ज़बान के हक़ में, ठीक माना जाय तो माना जाय; अब तो यह क़ैद कभी की टूट चुकी है, उर्दू बहुत आगे बढ गई है।

सय्यद इन्शा ने 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के लिए जो क़ैद लगाई है—जो शर्तें पेश की हैं—यदि उनका उसी रूप मे पालन किया जाता, इन्शा

क्यों आप लगे मानने हाली के सुख़न को।
हाली को तो बदनाम किया उसके वतन ने,
पर आपने बदनाम किया अपने वतन को।

(दीवाने-हाली।)

दहन = मुँह। मौलिदोमंशा = जन्मभूमि, निवास-स्थान। मस = लगाव, छूना। आलमे-गुलशन = फुलवाड़ी। ज़ाग़ो-ज़ग़न = कौआ-चील। नहरे-लबन = शहद की नहर। सनअ़त = कारीगरी। नाफ़ा = हिरन की नाभि की गाँठ जिसमें कस्तूरी रहती है। आहू-ए-ख़ुतन = ख़ुतन देश का कस्तूरीमृग। बेसाख़्तापन = अकृत्रिमता, स्वाभाविकता। तअ़ल्ली = डींग। फ़न = कला।

की पेश की हुई शर्तों के मुताबिक़ ही भाषा लिखी बोली जाती, तो उर्दू भाषा का दायरा इतना महदूद या सकुचित हो जाता कि वह एक शहर के कुछ मुहल्लों की बोली बन कर रह जाती; उर्दू को जो व्यापक रूप आज प्राप्त है वह उसे कभी नसीब न होता। "उर्दू के असालीब-बयान" के लेखक ने उर्दू भाषा के भविष्य पर बहस करते हुए, उसे विस्तृत और व्यापक भाषा बनाने के साधनों का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

"दरिया-ए-लताफ़त" जो इस क़िस्म के मज़हकाख़ेज़ ख़यालात का एक ख़ासा क़ीमती जख़ीरा है, उर्दू ज़बान की इस बदक़िस्मती का एक ज़बरदस्त मुज़हिर है।"

इसके आगे उन्होंने इन्शा के उस आदर्श भाषायुग को उर्दू ज़बान का अहदे-जाहिलिया" कहा है। पर यह अहदे-जाहिलिया (मूर्खता का युग) इन्शा के साथ ही समाप्त नहीं हुआ, उनके बाद भी बरसों तक उसे लेकर आदर्श भाषा-वादियों मे द्वन्द्व-युद्ध चलता ही रहा —दिल्ली और लखनऊ के स्कूलों की लड़ाई, इसी आदर्शवाद के आधार पर जारी रही, जो अब तक भी किसी न किसी रूप में मौजूद है। 'उर्दू के असालीब-बयान' के लेखक इस सङ्कीर्ण आदर्शवाद से खिन्न होकर लिखते हैं:—

"इन्शा अल्ला ख़ाँ तो ख़ैर उस दौर के इन्सान थे जो उर्दू ज़बान का 'अहदे जाहिलिया' कहलाया जा सकता है। अहयाय-उलूम के मौजूदा ज़माने मे भी हमे बाज़ हस्तियाँ ऐसी नज़र आती हैं, जो इस क़िस्म के ख़यालात की अलमबरदारी करते हुए अपने तईं उर्दू का मुहसिन शुमार कराना चाहती हैं। लेकिन हम जुरअत के साथ इस अमर का इज़हार कर देना चाहते हैं कि इस क़िस्म के लोग उर्दू के हक़ीक़ी ख़िदमत-गुज़ार होना तो कुजा, यक़ीनी बदख़्वाह हैं। इन लोगों को दुनिया-ए-उर्दू में ज़िन्दा रहने का कोई हक़ हासिल नहीं, जो एक

दक़ियानूसी ख़याल पर अड़े हुए हैं और उनके सद्दे राह होते हैं, जो उदू को एक हमागीर ज़बान बनाने की सख़्त जद्दोजहद कर सकते हैं।'

सय्यद इन्शा ने फसीह और ग़ैर-फसीह उदू पर बहस करते हुए ख़ूब ही बाल की खाल निकाली है। 'दरिया-ए-लताफत' के दूस्दान ए सोम (तीसरे अध्याय) मे उस वक्त की सोसाइटी की बोल चाल के दस-बारह नमूने दिये हैं, जिन मे हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष, मालिक-नौकर, पढ़े लिखे-अनपढ, देहली-निवासी और देहली-प्रवासी, शहरी और देहाती सब शामिल हैं। नमूने की उन बोलियों को पढ़कर हँसी आती है, और आश्चर्य भी होता है, कि इन्शा ने फसीह उदू का जो आदर्श अपनी पुस्तक मे उपस्थित किया है, उसकी उन उदाहरणों मे कहीं गन्ध भी नहीं मिलती। और तो और खुद इन्शा ने मिर्ज़ा जान-जानाँ 'मज़हर' से अपनी मुलाक़ात का हाल लिखते हुए, अपनी बोली का जो नमूना दिया है, वह बहुत ही विचित्र है, जिसमे क्रिया और कारक के दो एक शब्दों ('से,' 'मे' और 'हुआ हूँ') को छोड़ कर हमारी तो समझ मे कुछ आया नहीं कि जनाब इन्शा ने हज़रत जान-जानाँ से यह क्या फ़रमाया या अर्ज़ किया है। हम उसे ज्यों का त्यों नागराक्षरों में देते हैं :—

"इब्तदाए-सिन सबा से ता अवायले-रीआन और अवायले-रीआन से अलल-आन इश्तियाके-मिलूई ताक़ तक़बील उतबए-आलिये न बहद्द था, कि सिलके-तहरीरो-तक़रीर मे मुन्तज़िम हो सके, लिहाज़ा बेवास्ता ओ वसीला हाज़िर हुआ हूँ।" ('दरिया-ए-लताफत')

हमें डर है कि इन्शा साहब की फसीह बोल-चाल की उदू को हम नागरी-लिपि मे सही नक़ल न कर सके हों, इसलिये इस इबारत को 'दरिया-ए-लताफत' से फारसी अक्षरों में ज्यों का त्यों उद्धृत किये देते हैं :—

" ابتدائے سن صبا سے تا اوائیل ریعان اور اوائیل ریعان سے
لی ان اشتیاق مالا یطاق تقبیل عتبۂ عالیہ نہ بحدے تھا کہ

سلک تحریر و تقریر میں منتظم ہو سکے لہذا بےواسطہ و وسیلہ
حاصر ہوا ہوں -" ('دریاے لطافت')

मालूम नहीं सय्यद इन्शा ने जानजानाँ साहब के साथ ही ख़ुसूसियत के साथ ज़राफ़त से यह तर्ज़े-गुफ़्तगू अख़्तियार किया था या सर्वसाधारण से भी वह उसी भाषा मे बातचीत करते थे ? सम्भव है उस वक्त के महाविद्वानों के परस्पर व्यवहार मे इस भाषा का प्रयोग होता हो, या अपनी विद्वत्ता का सिक्का बैठाने के लिये ही पहली मुलाक़ात में इन्शा ने यह बनावटी बोली बोली हो। जो कुछ भी हो, यह उदूं तो है नहीं। ऐसी कृत्रिम पाण्डनाऊ भाषा आजकल भी कुछ लोग कभी-कभी बोलते सुने जाते हैं।

एक सज्जन के दाहने पाँव के अँगूठे मे पत्थर से टकराकर चोट लग गई थी, उस पर पन-कपड़ा बाँध रक्खा था, लँगडा कर चलते थे। आप कुछ संस्कृत भी जानते हैं और विशुद्ध हिन्दी के परम पक्षपाती हैं। मैंने पूछा, 'आपके पाँव में क्या हुआ ?' बोले—"दक्षिण पाद के अंगुष्ठ मे प्रस्तर के आघात से व्रण हो गया है, उस पर आर्द्र वस्त्र वेष्टन कर रक्खा है, इससे लाभ की पूर्णतया सम्भावना है, अन्य प्रकार की अप्राकृत चिकित्सा-प्रणाली का मै विरोधी हूँ।"

नाम-भेद का झगड़ा

हिन्दी-उदूं के झगड़े में नाम-भेद भी एक मुख्य कारण बना हुआ है। हमारी भाषा के विभिन्न नामों की उत्पत्ति और उनके प्रचार के इतिहास पर विचार करना यहाँ उचित प्रतीत होता है।

उदूं के बहुत से हिमायती, इस रोशनी के ज़माने मे भी, यह कहते सुने जाते हैं कि हिन्दी एक नया और कल्पित नाम है, जो हिन्दुओं ने उदूं का बायकाट करने की गरज़ से गढ़ लिया है। दर असल हिन्दी कोई भाषा नहीं, उदूं ही इस देश की असली ज़बान है। इसी तरह

बहुत से हिन्दीवालों को उर्दू नाम से कुछ चिढ सी है। वह उर्दू के बारे मे ठीक वैसा ही मत रखते हैं जैसा उल्लिखित उर्दू वाले हिन्दी के विषय में। पर यदि इस नाम-भेद के विवाद पर ऐतिहासिक दृष्टि से निष्पक्ष होकर विचार किया जाय, तो यह दोनों ही पक्ष कुछ भ्रान्त से जँचते हैं। जो लोग हिन्दी नाम को कल्पित या मनगढत समझकर नाक-भौं चढ़ाते हैं, या इस नाम की प्राचीनता या सत्ता ही को स्वीकार नहीं करते, वह एक ऐतिहासिक सत्य का अपलाप करते हैं। 'हिन्दी,' उर्दू की अपेक्षा, बहुत ही पुराना और सर्वमान्य नाम है। जिस भाषा का नाम आजकल 'उर्दू' प्रचलित है, इसके लिये उर्दू के पुराने लेखकों और कवियों ने 'हिन्दी' शब्द का ही अपने ग्रन्थों मे सर्वत्र व्यवहार किया है, उर्दू का नाम कहीं नहीं आया। 'उर्दू' शब्द उस समय भाषा के लिए निर्मित ही नहीं हुआ था, फिर आता कैसे ?

बहुत से लोग 'उर्दू' शब्द के व्यवहार को (भाषा के लिए) शाहजहाँ के समय से मानते हैं। बहुत दिनों तक उर्दू की उत्पत्ति का काल भी यही माना जाता रहा है, अर्थात् शाहजहाँ के शासन-काल में दिल्ली का उर्दू-बाज़ार (छावनी) उर्दू भाषा की जन्मभूमि या सूतिका-गृह है, ऐसा समझा जाता रहा है। पर यह दोनों ही धारणाएँ निराधार और केवल किंवदन्ती ही हैं। इनकी पुष्टि मे कोई दृढ ऐतिहासिक वा साहित्यिक प्रमाण नहीं मिलता, जिसका निरूपण हम आगे चलकर उर्दू की उत्पत्ति के प्रकरण में करेंगे। उर्दू नाम कब से चला, इसका विचार आगे आ रहा है।

हिन्दी

भारत की इस भाषा के जितने नाम प्रचलित हैं, 'हिन्दी' उन सब में पुराना है। इस नाम की सृष्टि हिन्दुओं ने नहीं की, और न उन्होंने इसका प्रचार ही किया है; हिन्दू लेखकों ने तो इसके लिए प्रायः सर्वत्र

'भाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है।* भाषा के लिये हिन्दी शब्द के सर्वप्रथम नामकरण का सारा श्रेय मुसलमान लेखकों और कवियों ही को दिया जा सकता है। हिन्दुओं का इसमें ज़रा हाथ नहीं। इस बात को सभी आधुनिक उर्दू इतिहासलेखकों ने स्वीकार कर लिया है—'उर्दू'-ए-क़दीम' 'तारीख़े-नस्र-उर्दू', 'पंजाब में उर्दू' इत्यादि ग्रन्थों के विद्वान् लेखकों ने बड़ी खोज के साथ यह साबित कर दिया है कि उर्दू का सब से पुराना नाम "हिन्दी" ही है। अमीर ख़ुसरो की 'ख़ालिक़-बारी' में, (जो उर्दू-हिन्दी का सब से पुराना कोश है), सब जगह 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' ही आया है,† उसमें उर्दू, रेख़्ता या और किसी दूसरे नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है। 'ख़ालिकबारी' मे बारह

---

*भाषा भनिति थोर मति मोरी।—(तुलसीदास)

†ख़ालिक़बारी के उदाहरण—

'हिन्दवी' { बिरनो तो नाम चरख़ा बेचारा पीरज़न,
गोयन्द नाम रहटा दर हिन्दवी बचन।

मुश्क काफ़ूरस्त कस्तूरी कपूर,
हिन्दवी आनन्द शादी ओ सरूर
संग पाथर जानिये बरकन उठाव,
अस्प मीराँ हिन्दवी घोड़ा चलाव।
आईना आरसी कि दरो रूए बिनगरी,
सेवा बहिन्दवी कि बुवद नाम चाकरी।
देहीम ताजो-अफ़सर दर हिन्दवी मुकट,
ज़ागे बुरीदा पर-रा तू जान काग कट।
तप लर्ज़ा दर हिन्दवी आमद जूड़ी ताप,
दर्दे-सर आमद सिर की पीड़ा तब है धाप।
ज़म्ब गुनह जो कहिये दोष, ख़शमो-ग़ज़ब दर हिन्दवी रोष।

बार 'हिन्दी' और पचपन बार 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'हिन्दी' का अर्थ है हिन्द की भाषा, और 'हिन्दवी' से मतलब है हिन्दुओं या हिन्दुस्तानियों की भाषा। इन दोनों शब्दों मे 'याय-निसबती' या सम्बन्ध-सूचक 'ईकार' है। यह तो साफ़ ही ज़ाहिर है, इससे किसी को इन्कार नहीं हो सकता। अमीर ख़ुसरो के इस 'हिन्दवी' शब्द से यहाँ किसी को यह भ्रान्ति न होनी चाहिये कि जातिविशेष या केवल हिन्दुओं ही की भाषा से उनका अभिप्राय है। कविवर 'सौदा' के उस्ताद 'शाह हातम' ने भी सन् १७५० ई० मे 'हिन्दवी' या 'हिन्दी भाषा' शब्द, हिन्दुस्तान की भाषा के अर्थ मे, इस्तेमाल

हिन्दी { निहार-ओ-दिगर योम रोज़स्त जानो,
बहिन्दी ज़बाँ द्यौस दिनरा पचहानो।

शाना-ओ-मश्तस्त दर हिन्दी ज़बाँ,
कंघी आमद पेश तो करदम बयाँ।
नमक मलह है लोन शीरीं है मीठा,
बहिन्दी ज़बाँ बेमज़ा हस्त सीठा।
दोक तकला सूत बाशद रीसमा,
जान रेसीदन बहिन्दी कातना।
शर्मो-हया दर हिन्दी लाज,
हासिल कहिये बाज़ख़िराज।
दादन देना दाद दिया फेल का
क़र्ज़ो-दामो-दैन दर हिन्दी उधार।
पस बहिन्दी पम्बारा मी दाँ कपास,
नस्र करगस बूम उल्लू बू ए बास।

इत्यादि।

किया है।* यहाँ 'हिन्दू' शब्द हिन्द के निवासी अर्थ का बोधक है, भारत की किसी जाति विशेष का नहीं। अबतक भी अमेरिका और फ़ारस आदि देशों मे हिन्दुस्तानी मात्र को (चाहे वह मुसलमान हो, हिन्दु या ईसाई) 'हिन्दू' ही कहा जाता है। विचार करने पर इसमें किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं रह जाता कि हमारी भाषा का सब से पुराना, व्यापक और बहु-व्यवहृत नाम 'हिन्दी' है, और मुसलमान लेखक ही—इस नाम के निर्माता और प्रचारक हैं। 'आतिश' ने भी (जो उस दौर के शाइर हैं, जब उर्दू ज़बान मॅज चुकी थी—मतरूकात से पाक होकर 'ख़ालिस उर्दू' बन चुकी थी,) उर्दू के लिये 'हिन्दी' लफ़्ज़ का इस्तेमाल किया है—

'मतलब की मेरे यार न समझे तो क्या अजब,
सब जानते हैं तुर्क की हिन्दी ज़बाँ नहीं।'

उर्दू के आधुनिक आचार्य 'इन्शा' ने अपने 'दरिया-ए-लताफ़त' मे कई जगह 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग, उर्दू के अर्थ या पर्याय में, किया है, यथा 'दरिया-ए लताफत' मे दो बार हिन्दी शब्द आया है।

'सादा' के समकालीन और मदरासप्रान्त के एलोर के निवासी बाक़र आगाह (जन्म ११५७ हिजरी) ने अपने उर्दू दीवान का नाम

---

* शाह हातम अपने 'दीवानज़ादे' के दीबाचे (भूमिका) मे लिखते हैं—

"मैंने तहरीर के लिये वह ज़बान अख्तियार की है, जो हिन्दुस्तान के तमाम सूबों की ज़बान है, यानी हिन्दवी, जिसे भाखा कहते हैं; क्योंकि इसे आम लोग बखूबी समझते हैं और बड़े तबक़े के लोग (भद्रव्यक्ति) भी पसन्द करते हैं। (फ्रेञ्च विद्वान् गार्सां द तासी Garcin de Tassy, के पाँचवे भाषण से)।

"दीवाने-हिन्दी" रखा है। इनके सम्बन्ध मे लिखते हुए मुहम्मद अब्दुलक़ादिर सरवरी साहब, एम० ए०, एल-एल० बी०, ने लिखा है—

"दीवान के सरवरक़ (मुखपृष्ठ) पर और ख़ुद अशआर में भी कहीं-कहीं 'हिन्दी' ही का लफ़्ज़ इस्तेमाल किया गया है, ताहम यह मालूम रहे कि इससे मुराद उन शाइरों की 'उर्दू' होती थी, क्योंकि वह उर्दू को 'हिन्दी' से कोई जुदा चीज़ नहीं समझते थे।"

आगे लिखा है—

"हिन्दी या हिन्दवी इसका क़दीमतरीन नाम था। 'उर्दू' और 'दखनी' के लिये भी यह लफ़्ज़ बिला तकल्लुफ इस्तेमाल होता था गोया 'उर्दू' 'हिन्दी' और 'दखनी' एक ही ज़बान के मुख़्तलिफ़ नाम थे।...इस ज़बान की शाइरी 'रेख़्ता' कहलाती थी।※

कविवर 'जुरअत' अपनी मनसवी 'हुस्नो इश्क़' मे उर्दू के लिये हिन्दी शब्द इस्तेमाल करते हैं—

> कि इक क़िस्सा सुनावे कोई मग़मूम,
> तो उसको कीजिये हिन्दी में मंज़ूम।

रेख़्ता

उर्दू भाषा के लिये, हिन्दी के बाद, दूसरा नाम 'रेख़्ता' मिलता है; पर रेख़्ता असल में उर्दू पद्य की भाषा का नाम था। बोलचाल की या उर्दू गद्य की भाषा के अर्थ में इसका प्रयोग नहीं होता था, जैसा कि लफ़्ज 'मराख़्ता' (مراختہ) से ज़ाहिर है, जो 'मशाइरे' (مشاعرہ) के मुक़ाबिले में बरता गया; क्योंकि पहले 'मशाइरा' सिर्फ फ़ारसी-कविता के लिये ही होता था। बाद को जब उर्दू पद्य का प्रचार हुआ—

※ रिसाला 'उर्दू' अप्रैल सन् १९२९ ई०।

कवि-समाज में, फारसी-कविता पाठ के अनुकरण में, उर्दू-कविता पढी जाने लगी—तो उसका नाम 'मराख़्ता' रक्खा गया।※

रेख़्ता शब्द की निरुक्ति या 'वजे तसमिया' यह बतलाई जाती है कि विभिन्न भाषाओं के शब्दों से—मुख़्तलिफ़ ज़बानों के अलफ़ाज़ से—इसे 'रेख़्ता,' पुष्ट या अलकृत किया गया है; जैसे ईंट की दीवार को चूने या सीमेंट के पलस्तर से पायदारी और हमवारी, मज़बूती और सजावट, के लिये रेख़्ता करते हैं। भाषा-विज्ञान के कोई कोई आचार्य इसकी निरुक्ति यह भी बतलाते हैं कि 'रेख़्ता' गिरी-पड़ी और बिखरी हुई मिली-जुली मुतफर्रिक़ चीज़ को कहते हैं। उर्दू भी मुतफर्रिक़ ज़बानों से मिल-जुलकर बनी है, इसलिये इसका नाम भी रेख़्ता पड़ गया।†

'मुन्शी दुर्गाप्रसाद नादिर' "ख़जीनतुलउलूम" में लिखते हैं कि 'रेख़्ता ब मानी गिरे हुए के हैं, पस जो ज़बान अपनी असलियत से गिर जाय उसको 'ज़बान-रेख़्ता' बोलते हैं; चुनाचे जैसे फ़ारसी ज़बान में अरबी के लुग़त शामिल हुए, इसे ज़बान रेख़्ता-फारसी कहते हैं। इसी तरह ज़बान रेख़्ता-हिन्दी को ज़बान उर्दू समझते हैं।"

'रेख़्ता' का अर्थ पक्की इमारत भी है, जो मिट्टी वा लकड़ी की न हो, बल्कि ईंट, पत्थर, चूने की हो। 'सौदा' ने एक जगह कहा है :—

हर बैत रखे है ये ग़ज़ल ऐसी ही मज़बूत,
'सौदा' कोई ज्यूँ रेख़्ते के घर प करे गच।

※ हाकिम लाहौरी अपने 'तज़किर-ए-मर्दुमेदीदा' में ख़ाने आरज़ू के हाल में लिखते हैं—"मराख़्ता दर ख़ान-ए ख़ान आरज़ू पाँज़दहम हर माहे मी बाशद!"

† 'रेख़्ता' फ़ारसी के रेख़्तन् मसदर (धातु) से बना है, जो बनाने, ईजाद करने, किसी चीज़ को कालिब में ढालने, नई चीज़ बनाने और मौज़ूँ करने के मानी में आता है।

'मज़हिर' का शेर फ़ारसी और रेख़्ते के बीच,
'सौदा' यक़ीन जान कि रोड़ा है बाट का।
आगाह-फ़ारसी तो कहे उसको रेख़्ता,
वाक़िफ़ जो रेख़्ता के ज़रा होवे ठाट का।
सुनकर वो ये कहे कि नहीं रेख़्ता है ये,
और रेख़्ता भी है तो फ़िरोज़शाह की लाट का।

"रेख़्ता से मुराद अगर्चें 'वली' और 'सिराज' के हाँ (यहाँ) नज़्म उर्दू है, लेकिन देहलवियों ने बिलआख़िर इसको ज़बान उर्दू के मानी दे दिये और यह माने क़ुदरतन् पैदा हो गये, इसलिये कि इन अय्याम में उर्दू ज़बान का तमामतर सरमाया नज़्म मे ही था। जब नसर पैदा हो गई तो यही इस्तलाह उस पर नातिक़ आ गई (चरितार्थ हुई)। इस तरह रेख़्ता क़ुदरतन् उर्दू ज़बान का नाम हो गया।"*

'रेख़्ता' शब्द का प्रयोग सब से पहले 'सादी'† दक्खनी के कलाम में मिलता है, जो 'वली'‡ दक्खनी से पूर्व, आदिलशाह अव्वल के समय (सन् १५८६ ई०) मे हुआ है। बाद को दूसरे कविलेखकों ने भी रेख़्ते का प्रयोग अधिकता से किया है। मीर तक़ी मीर ने अपने "तज़करे-निकातुश्शोरा" में और 'क़ायम' चाँदपुरी ने "मख़ज़ने-निकात" मे बार-बार उर्दू नज़्म के लिये 'रेख़्ता' ही लिखा है। 'निकातुश्शोरा' मे एकाध जगह भाषा के लिये 'हिन्दी' शब्द तो आया है, पर उर्दू नहीं आया। 'सौदा' के बयान में 'सरआमद शोराइ हिन्दी ऊस्त' लिखा है। मीर

---

* 'पंजाब में उर्दू,' पृष्ठ २१।

† 'सादी' कि गुफ़्ता रेख़्ता दर रेख़्ता दुर रेख़्ता,
शीरो शकर आमेख़्ता हमशेर है हमगीत है।

‡ यह रेख़्ता 'वली' का जाकर उसे सुना दो,
रखता है फ़िक्र रोशन जो अनवरी के मानिन्द।

साहब ने अपनी कविता में 'हिन्दी' लफ्ज़ का भी इस्तेमाल किया है। उनका एक शेर है—

क्या जानूँ लोग कहते हैं किसको सरूरे-क़ल्ब[1]
आया नहीं है लफ़्ज़ य हिन्दी ज़बाँ के बीच।

(कुल्लियाते मीर।)

ज़ाहिर है कि मीर साहब का मतलब 'हिन्दी ज़बान' से वह ज़बान है जिसमे वह कविता करते थे, और जिसे अब 'उर्दू' कहा जाता है। बाक़ी उन्होंने अपने तज़करे मे सब जगह 'रेख़्ता' ही लिखा है, उर्दू या उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं।*

शाह मुबारक 'आबरू,' 'मीर,' 'सौदा,' 'ग़ालिब,' 'जुरअत' और 'क़ायम' ने भी अपनी कविता मे रेख़्ता शब्द का प्रयोग किया है। रेख़्ते के बारे में शाह 'आबरू' का यह किता तो आबे-ज़र से लिखने के क़ाबिल है :—

वक़्त जिनका रेख़्ते की शाइरी मे सर्फ़ है,
उन स' ती कहता हूँ बूझो हर्फ़ मेरा ज़र्फ़ है।
जो कि लावे रेख़्ते मे फ़ारसी के फ़ेलो हर्फ़,
लग़्व हैंगे फ़ेल उसके रेख़्ते में हर्फ़ है।

---

[1] हृदयोन्माद; दिल की मस्ती।

* देखिये 'निकातुरशोरा' 'सौदा' के हाल मे, मीर 'दर्द', मीर 'सज्जाद', फ़ुग़ाँ, 'पाकबाज़', 'वली', सय्यद अब्दुलवली 'उजलत', 'आजिज़' इत्यादि। इन सब उर्दू कवियों के परिचय मे मीर साहब ने सिर्फ़ 'रेख़्ता' लफ्ज़ ही लिखा है। मौलवी अब्दुलग़फ़ूर ख़ाँ 'नसाख़' ने अपनी पुस्तक का नाम 'तहक़ीक़ ज़बान रेख़्ता' रक्खा है, जो सन् १८६० ई० में छपी है, और जिसमे उर्दू की उत्पत्ति पर विचार किया गया है। —लेखक।

मीर साहब ने रेख़्ते की झड़ी लगा दी है। नमूने देखिये :—

दिल किस तरह न खींचें अशआर रेख़्ते के,
बिहतर किया है मैंने इस ऐब को हुनर से।
ख़ूगर[1] नहीं कुछ योंही हम रेख़्ता-गोई के,
माशूक़ जो अपना था बाशिन्दा दकन का था।
बे सोज़े[2]-दिल किन्होंने किया रेख़्ता तो क्या,
गुफ़्तारे[3]-ख़ाम पेशे अज़ीज़ाँ सनद नहीं।
याँ फ़क़त रेख़्ता ही कहने न आये थे हम,
चार दिन ये भी तमाशा-सा दिखाया हमने।
सन्नाय[4]- तुरफ़ा हैं हम आलम में रेख़्ते के,
जो 'मीर' जी लगेगा तो सब हुनर करेंगे।
गुफ़्तगू रेख़्ते में हमसे न कर
य' हमारी ज़बान है प्यारे।
कसब[5] और किया होता एवज़ रेख़्ते के काश,
पछताये बहुत 'मीर' हम इस काम को कर कर।
मज़बूत कैसे कैसे कहे रेख़्ते वले[6]—
समझा न कोई मेरी ज़बाँ इस दयार[7] में।
पढ़ते फिरेंगे गलियों में इन रेख़्तों को लोग,
मुद्दत रहेंगी याद य' बातें हमारियाँ।
रेख़्ता ख़ूब ही कहता है जो इन्साफ़ करो।
चाहिए अहले-सख़ुन 'मीर' को उस्ताद करें।

---

[1] आदी।
[2] दिल की जलन।
[3] कच्ची बात।
[4] अजीब कलाविद्।
[5] पेशा।
[6] लेकिन।
[7] देश।

'सौदा' के चन्द नमूने—

तूने वह सौदा ज़बाने-रेख़्ता ईजाद की,
पढ़ के इक आलम उठाता है तेरे अशआर फ़ैज़ ।
रेख्ता और भी दुनिया में रहे, ऐ सौदा,
जीने देवे जो कभू[1] काविशे[2] दौरों मुझको ।
कहे था रेख्ता कहने को ऐब नादाँ भी
सो यूँ कहा मै कि दाना हुनर लगा कहने ।
सख़ुन को रेख़्ते के पूछे था कोई सौदा,
पसन्द ख़ातिरे-दिलहा हुआ य' फ़न मुझसे ।

'ग़ालिब' के चन्द अशआर—

रेख़्ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब,
कहते हैं अगले ज़माने में कोई 'मीर' भी था ।
जो य' कहे कि रेख़्ता क्योंकि हो रश्के-फ़ारसी,
गुफ़्तए-ग़ालिब एक बार पढ़के उसे सुना कि यों ।
तर्ज़े-बेदिल में रेख़्ता कहना—
असदुल्ला ख़ाँ क़यामत है ।

'क़ायम' के दो शेर—

'क़ायम' मैं किया तौरे-ग़ज़ल रेख़्ता वरना—
इक बात लचर-सी बज़बाने-दकनी थी ।
'क़ायम' मैं रेख़्ते को दिया ख़िलअते-कबूल,
वरना य' पेशे-अहले-हुनर (सुख़न) क्या कमाल था ।

जुरअत—

कह ग़ज़ल और इस अन्दाज़ की 'जुरअत' अब तू,
रेख़्ता जैसे कि अगली तेरी मशहूर हुई ।

---

[1] कभी । [2] तकलीफ़

'मीर' और 'क़ायम' ने अपने पद्यों में रेख़्ते की जन्मभूमि 'दकन' का नाम लेकर इस बात की ओर इशारा किया है कि 'रेख़्ते' का प्रचार दक्खिन से ही हुआ है, जैसा कि ऊपर ज़िक्र आ चुका है।*

उर्दू

इस सिलसिले में तीसरा नंबर उर्दू या उर्दू-ए-मुअल्ला का है जो हमारी भाषा के सब नामों का एकमात्र उत्तराधिकारी बन बैठा है—उन सब पर विस्मृति का गहरा पर्दा डाल कर छिपा दिया और भुला दिया है। इस उर्दू नाम का इतिहास भी सुनने लायक़ है। यह एक विदेशी शब्द है, जिसने ज़बरदस्ती हमारी भाषा पर क़ब्ज़ा कर लिया है। तुर्की भाषा में उर्दू लश्कर (छावनी) को कहते हैं। प्रारम्भ में मुग़ल और तुर्क बादशाह छावनी में रहा करते थे। उनका दरबार और रनवास सब लश्कर में ही होता था, इस विशेषता के कारण शाही 'लश्कर उर्दू-ए-मुअल्ला' कहलाया।

यह तो उर्दू का शब्दार्थ हुआ। अब देखना यह है कि हमारी भाषा में इसका व्यवहार और प्रचार कैसे और कब से हुआ। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। मीर 'अम्मन' देहलवी ने 'बाग़ो-बहार' (सन् १८०१ ई०) की भूमिका में लिखा है—

---

*'गुलशने-हिन्द' के लेखक मिर्ज़ा अली 'लुत्फ़' ने भी अपनी किताब में उर्दू के लिए जगह-जगह 'ज़बान-रेख़्ता' ही लिखा है। वह किताब डा० जान गिलक्राइस्ट की आज्ञानुसार फ़ारसी 'गुलज़ार इब्राहीम' से तर्जुमा की गई थी। यद्यपि उस समय हिन्दुस्तानी शब्द का भी उर्दू के लिये प्रयोग हो चला था, मगर 'लुत्फ़' ने लिखा है कि, "इन फ़ारसी किताबों के हिन्दी-नसर करने से मुराद यह है.. ...।" इस प्रकार उन्होंने उर्दू गद्य के लिए 'हिन्दी-नसर' शब्द भी इस्तेमाल किया है।

('गुलशने-हिन्द')

"जब अकबर बादशाह तख्त पर बैठे तब चारों तरफ के मुल्कों से सब क़ौम क़दरदानी और फैजरसानी इस ख़ानदाने-लासानी की सुनकर हुज़ूर मे आकर जमा हुए, लेकिन हर एक की गोयाई और बोली जुदी-जुदी थी। इकट्ठे होने से आपस मे लेन-देन, सौदा-सुलफ़, सवाल-जवाब करते एक जबान उर्दू की मुकर्रर हुई।"

अर्थात्, मीर 'अम्मन' के मतानुसार उर्दू की उत्पत्ति बादशाह अकबर के समय मे हुई।

सर सय्यद अहमद ख़ाँ ने अपनी पुस्तक 'आसारुस्सनादीद' (सन् १८५४ ई०) के अन्त मे लिखा है—

"जब कि शाहजहाँ बादशाह ने सन् १६४८ ई० में शहर शाहजहानाबाद आबाद किया और हर मुल्क के लोगों का मजमा हुआ, इस जमाने मे फारसी ज़बान और हिन्दी भाषा बहुत मिल गई, और बाज़े फारसी लफ्ज़ों और अक्सर भाषा के लफ्जों मे बसबब कसरत इस्तेमाल (बहु-व्यवहार के कारण) के तग़य्युर व तबदील (परिवर्तन) हो गई। ग़रज़ की लश्कर बादशाही और उर्दू-ए-मुअल्ला (लाल क़िला) मे इन दोनों जबान की तरकीब (मिश्रण) से नई ज़बान पैदा हो गई और इसी सबब से ज़बान का उर्दू नाम हुआ। फिर कसरते-इस्तेमाल से लफ्ज ज़बान का महज़ूफ़ (विलोप) होकर इस जबान को उर्दू कहने लगे... ।"

सर सैयद के इसी मत से मिलता-जुलता मत 'आबे-ह्यात' के प्रसिद्ध प्रणेता मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' का भी है।

परन्तु यह मत माननीय नहीं प्रतीत होता। इसकी अग्राह्यता पर नव्वाब सदर यार जग मौलाना हबीबुर्रहमानखाँ शेरवानी ने अपने लाहोर वाले ओरियन्टल कान्फरेन्स के सभापति के भाषण में यह कहकर आपत्ति उठाई है कि—"इसकी कोई सनद नहीं कि अहद मजकूर (शाहजहाँ के शासनकाल) में इस ज़बान का नाम उर्दू था। इन्तहा यह कि

दिल्ली के उर्दू बाज़ार का नाम भी इस अहद में यह न था।※ हमने ऊपर साबित किया है कि इब्तिदा से आख़िर तक हमारी ज़बान का नाम हिन्दी रहा। जब वली दकनी ने (सन् ११५० हिजरी) मे मज़ामीन फ़ारसी की चाशनी हिन्दी नज़्म (उर्दू पद्य) मे पैदा की, तो ख़ास अदबी और शेरो ज़बान (साहित्य और कविता की भाषा) को रेख़्ता कहने लगे। इस वक़्त तक भी उर्दू का लफ़्ज़ इस ज़बान के लिए मुस्तअमिल (व्यवहृत) न हुआ था।

नव्वाब शेरवानी की यह दलील बहुत वज़नी है और 'उर्दू' शब्द की उत्पत्ति प्रचार-काल के सम्बन्ध मे एक ऐतिहासिक प्रकाश डालती है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शाहजहाँ के समय मे उर्दू की उत्पत्ति बताने वालों का मत नितान्त निर्बल और प्रवादमात्र है। जब शाहजहाँ के शासन-काल मे ही उर्दू की उत्पत्ति का पता नहीं चलता, तो मीर 'अम्मन' का यह कथन कि अकबर के ज़माने मे ही उर्दू भाषा बन चुकी थी, निरा निराधार और कोरी कल्पना है। यदि बादशाह अकबर या शाहजहाँ के समय मे हमारी भाषा का नाम 'उर्दू' पड चुका होता, तो परवर्त्ती लेखक और कवि कहीं तो इस नाम का उल्लेख या व्यवहार करते। जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, पुराने प्रायः सभी लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाओं मे सर्वत्र हिन्दी या रेख़्ता शब्द का ही प्रयोग किया है।

'उर्दू' शब्द भाषा के अर्थ में कब से प्रयुक्त और प्रचलित हुआ, यह विषय अबतक विवादास्पद बना हुआ है। इसका ठीक निर्णय किसी पुष्ट प्रमाण के आधार पर अभी नहीं हो सका है। कुछ विचारशील विद्वानों का कथन है कि आमतौर पर उर्दू शब्द भाषा के लिए अठा-

---

※ जैसा कि 'आसारुस्सनादीद' में 'तारीख़ मराते-आफ़ताबनुमा' के हवाले से सर सय्यद अहमद ख़ाँ ने लिखा है।

रहवीं सदी के अन्त मे इस्तेमाल होना शुरू हुआ। नव्वाब शुजाउद्दौला और आसुफ़ुद्दौला के शासन-काल (सन् १७९७ ई०) मे सय्यद अता-हुसेन 'तहसीन' ने 'चहार-दरवेश' का तर्जुमा 'नौतर्ज़मुरस्सा' के नाम से किया था। उसमें इन्होंने अपनी ज़बान के लिये रेख़्ता, हिन्दी और ज़बान उर्दू-ए-मुअल्ला—इन तीन नाम का प्रयोग एक ही प्रसङ्ग और एक ही पृष्ठ में साथ-साथ किया है, केवल 'उर्दू' शब्द उनकी किताब मे कहीं नहीं पाया जाता। यदि 'उर्दू' शब्द उस युग में व्यापक और रूढ़ हो गया होता, तो 'तहसीन' साहब उन तीन शब्दों के झमेले में न पड़कर केवल 'उर्दू' शब्द से काम चला लेते। इससे मालूम होता है कि उर्दू शब्द का प्रयोग इस काल में भी अच्छी तरह से प्रचलित नहीं हुआ था। अलबत्ता इस समय को उर्दू शब्द के प्रचार का आरम्भ-काल कहा जा सकता है। इसके बाद शनैः शनैः यह शब्द भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। 'मसहफी' और 'दाग़' ने अपने शेरों मे उर्दू शब्द का प्रयोग किया है—

ख़ुदा रक्खे ज़बा हमने सुनी है मीरो मिर्ज़ा की;
कहे किस मुँह से हम ऐ 'मसहफ़ी' उर्दू हमारी है।
नहीं खेल ऐ दाग़ यारों से कह दो;
कि आती है उर्दू ज़बाँ आते आते।

हिन्दुस्तानी

भाषा का एक नाम हिन्दुस्तानी भी है। हमारी भाषा का यह नामकरण जैसा कि कहा जाता है, यूरोपियन लोगों ने किया है। इसका भी मनोरजक इतिहास है। सत्रहवीं सदी मे जब पुर्तगाली लोग भारत में आये तो उन्होंने हमारे यहाँ की भाषा का नाम अपनी सूझ-बूझ के अनुसार इन्डोस्तान (Indostan) रक्खा। कभी-कभी इस नाम को इन्डोस्तानी भी पुकारा जाता रहा। लेकिन इसी शताब्दी में हिन्दुस्तानी

ज़बान (Hindostani language) का शब्द भी पाया जाता है। इससे आगे चलकर हमारे मिहरबान यूरोपियन साहबान ने इस शब्द को अपने उच्चारण के अनोखे साँचे मे ढालकर विचित्र रूप दे दिया। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में एक इतिहास लेखक कहता है कि हिन्दुस्तान की ज़बान का नाम हिंडोस्टेंड (Hindostand) है। आपने लेम्पस्टेड, कैंडलस्टेड, इकस्टेड आदि शब्द तो सुने ही होंगे, अब इस हिडोस्टेंड को भी याद कर लीजियेगा! और लीजिये। तत्कालीन गोरे फौजी अफसर "काले" हिन्दुस्तानियों की इस ज़बान को भी 'काली ज़बान' (Black language) फरमा दिया करते थे। 'स्याह तालू' तो सुनते आ रहे हैं, लेकिन यह स्याह ज़बान हमारे मिहरबान 'साहब लोगों' की नई और निराली ईजाद थी।*

'हिन्दुस्तानी' नाम आजकल हिन्दू मुसलमानों की मुश्तरका ज़बान के मानी मे बोला जाता है, लेकिन उस वक्त इस नाम को गढ़ने वाले विदेशियों ने इसका प्रयोग दूसरे सकुचित अर्थों में किया है। उन लोगों का मतलब 'हिन्दुस्तानी' से उस ज़बान से था, जिसे उत्तर भारत के युक्त प्रदेश और अन्तर्वेद (दोआब) के लोग और दिल्ली, मेरठ, आगरा आदि के रहने वाले मुसलमान बोलते थे, और जो दक्षिण के

---

* "हमारे हाँ (यहाँ) आम ख़याल यह है कि अँगरेज़ों ने यह (हिन्दुस्तानी) नाम दिया है, लेकिन अमर वाक़आ (वास्तविक बात) ये है कि ख़ुद हमारे असलाफ़ (पूर्वज) इसको ज़बान-हिन्दोस्तान या बोली-हिन्दोस्तान कहते रहे। मौलाना वजही किताब 'सबरस' (जिसका रचना-काल सन् १०४० हिजरी के क़रीब बताया जाता है) में उर्दू को 'ज़बाने-हिन्दोस्तान' कहते हैं। (यथा)—"आग़ाज़ दास्तान ज़बान हिन्दोस्तान नक़ल एक शहर था, इसका नाँव [नाम] सीस्तान।"

(पंजाब में 'उर्दू')

मुसलमानों मे भी प्रचलित हो गई थी। जो मतलब इस समय आमतौर से उर्दू का समझा जाता है, वही मुराद इस हिन्दुस्तानी से थी—अर्थात् हिन्दी भाषा का वह रूप, जिसमें विदेशी भाषाओं के शब्द अधिक हों। पुराने समय के ऐंग्लो-इण्डियन लोग इस भाषा को 'मूर्ज़' इसलिये कहा करते थे कि सत्रहवीं शताब्दी मे यूरोपियन लोग मुसलमानों को मूर कहकर पुकारा करते थे।*

इस नाम पर सरकारी सनद की बाक़ायदा छाप उस समय लगी जब (सन् १८०३ ई० में) कलकत्ते के फोर्ट विलियम मे, डाक्टर जान गिलक्राइस्ट की देख रेख मे, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के यूरोपियन कर्मचारियों को देशी भाषा सिखाने के लिये एक महकमा क़ायम किया गया और हिन्दू मुसलमान विद्वानो से उर्दू-हिन्दी मे पुस्तके लिखवाई गई। हिन्दी-लेखकों मे पण्डित सदल मिश्र और पण्डित लल्लूजी लाल प्रमुख थे, और मुसलमानों मे मीर 'अम्मन' देहलवी आदि थे। इन लेखकों को ऐसी भाषा तैयार करने के लिये नियुक्त किया गया था, जो सर्व-साधारण की भाषा हो—न मौलवियाना उर्दू-ए-मुअल्ला और न पण्डिताऊ सस्कृतनुमा हिन्दी। मीर 'अम्मन' ने 'बाग़बहार' के लिखने का शाने नज़ूल (रचना का कारण) बतलाते हुए पुस्तक की भूमिका मे लिखा है—

" ··· ख़ुदावन्दे-निअमत साहबे-मुरव्वत नजीबों के क़दरदान जान गिलक्राइस्ट साहब ने (कि हमेशा इक़बाल इनका ज़्यादा रहे, जब तक गङ्गा जमुना बहे) लुफ्त से फरमाया कि क़िस्से को ठेठ 'हिन्दुस्तानी' गुफ़्ग़ू में, जो 'उर्दू' के लोग—हिन्दू-मुसलमान, औरत-

---

* देखिये—हाब्सनजाब्सन, पृष्ठ ४१२, ४१७, ४१८, ४८४, ६३६, ६४०, जिसका उल्लेख मौ० शेरवानी ने अपने व्याख्यान में किया है।

मर्द, लड़के-बाले, ख़ासोआम आपस मे बोलते-चालते है, तर्जुमा करो। मुवाफिक़ हुक्म हुज़ूर के मैंने भी इसी महावरे से लिखना शुरू किया जैसे कोई बाते करता है।"

इसी आदर्श को सामने रखकर पण्डित लल्लूजीलाल और पं० सदल मिश्र ने भी पुस्तके लिखीं, जिनके बारे में "अरबाबे-नसर उर्दू" के लेखक ने लिखा है कि—"इनकी हिन्दी तहरीर भी निहायत साफ व शुस्ता (स्वच्छ और स्पष्ट) थी। अगर इसको फारसी रस्मुलख़त (लिपि) में लिखा जाय, तो इसको उर्दू तहरीर ही कहा जायगा। इसमे सस्कृत के सक़ील (कठोर) और ग़ैर-मानूस (अप्रचलित) अलफाज़ की बेजा भरमार नहीं है।

स्वय गिलक्राइस्ट साहब ने भी हिन्दुस्तानी भाषा के सम्बन्ध में सोलह पुस्तके लिखीं, उनमें प्रायः भाषा के लिये हिन्दुस्तानी शब्द का ही व्यवहार किया गया है। हिन्दुस्तानी भाषा के सम्बन्ध में इनकी दो पुस्तके मशहूर हैं—'अगरेज़ी-हिन्दुस्तानी डिक्शनरी, और 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण'। इस तरह भाषा के लिये 'हिन्दुस्तानी' नाम की बुनियाद पक्की हो गई, उसे सरकारी सनद मिल गई।

पूर्वीय भाषाओं के सुप्रसिद्ध फरान्सीसी विद्वान् गार्सा द' तासी* ने भारत की भाषा के सम्बन्ध में जो व्याख्यान दिये और पुस्तके लिखीं, उनमें भी हमारी भाषा के लिये उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने पूर्वीय भाषा-सम्बन्धी अपने तीसरे व्याख्यान में, जो तारीख़ ५ दिसम्बर सन् १८५२ ई० को हुआ था, (और जिसका

---

* "Histore de la litterature Hindonie et Hindoustanie" गार्सां द' तासी (Garcin de Tassy) की एक प्रसिद्ध पुस्तक है, जो सन् १८४६ ई० में प्रकाशित हुई थी।

अनुवाद सय्यद रास मसऊद साहब ने मूल फ़रान्सीसी से उर्दू मे किया है) हिन्दुस्तानी के बारे में कहा है—

"लफ़्ज़ हिन्दुस्तानी उस ज़बान के हक़ मे, जिसके लिये यह इस्तेमाल किया जाता है, नामौज़ूँ (अयुक्त) है, और इसे इस नाम से याद करना हमारी बदमज़ाक़ी है (कुरुचि का सूचक है) । अलबत्ता इसको 'हिन्दुस्तानीन' (Hindustanien) कहा जा सकता है। मगर अँगरेज़ों की तक़लीद (अनुकरण) में हमने भी इसकी इब्तदाई शकल (प्रारम्भिक आकृति) क़ायम रखी। जैसा कि नाम से ज़ाहिर है, हिन्दुस्तानी अहले-हिन्दुस्तान (भारतवासियों) की ज़बान है। मगर यह ज़बान अपनी हक़ीक़ी-हदूद (वास्तविक सीमा) से बाहर भी बोली जाती है, ख़ुसूसन् मुसलमान और सिपाही इसको तमाम जज़ीरेनुमा हिन्दुस्तान नीज़ ईरान, तिब्बत और आसाम मे भी बोलते हैं। पस इस ज़बान के लिये लफ़्ज़ हिन्दी या इंडियन, जो इब्तदा (आरम्भ) मे इसको दिया गया था, और जिस नाम से कि अकसर बाशिन्दे इस मुल्क के अबतक इसको मौसूम करते हैं, इस नाम से (हिन्दुस्तानी से) ज़्यादा मौज़ूँ हैं, जो अहले-यूरोप ने अख़्तियार किया है।

"अहले-यूरोप लफ़्ज़ हिन्दी से हिन्दुओं की बोली मुराद लेते हैं, जिसके लिये 'हिन्दवी' बिहतर है, और मुसलमानों की बोली के वास्ते 'हिन्दुस्तानी' का नाम क़रार दे लिया है। ख़ैर, यह जो कुछ भी हो, हिन्दुस्तान की इस जदीद जबान (नई भाषा) की दो बड़ी और ख़ास शाखें ब्रिटिश इंडिया के बड़े हिस्से में बोली जाती हैं और शुमाल (उत्तर-भारत) के मुसलमानों की ज़बान यानी हिन्दुस्तानी उर्दू ममालिक-मग़रबी-ओ-शुमाली (अब सयुक्त-प्रान्त या सूबा हिन्दुस्तान) की सरकार की ज़बान क़रार दी गई है,—अगर्चे हिन्दी भी उर्दू के साथ-साथ इसी तरह क़ायम है, जैसी कि वह फ़ारसी के साथ थी। वाक़आ यह है, कि मुसलमान बादशाह हमेशा एक हिन्दी सेक्रेटरी, जो

हिन्दी-नवीस कहलाता था, और फ़ारसी सेक्रेटरी, जिसको वह फ़ारसी-नवीस कहते थे, रखा करते थे, ताकि उनके अहकाम इन दोनों ज़बानों में लिखे जायँ। इसी तरह ब्रिटिश गवर्नमेंट ममालिक मग़रबी-ओ-शुमाली मे हिन्दू आबादी के मफ़ाद (सुभीते) लिये अकसर औक़ात सरकारी क़वानीन (कानूनों) का उर्दू किताबों के साथ हिन्दी तर्जुमा भी देवनागरी हरूफ़ में देती है।"*

खड़ी बोली

जिस प्रकार हिन्दी उर्दू को सम्मिलित रूप देने के लिये हिन्दुस्तानी नाम एक विशेष कारण से—हिन्दी उर्दू दोनों का एक शब्दद्वारा बोध कराने के लिये—पड़ा, इसी तरह आम बोलचाल की भाषा के अर्थ मे 'खड़ी बोली' नाम का प्रयोग भी चल पड़ा है। इसकी उत्पत्ति 'हिन्दुस्तानी' नाम के बाद हुई मालूम होती है। किसी प्राचीन ग्रन्थ मे यह नाम नहीं पाया जाता।

हिन्दी कवि पहले ब्रजभाषा में ही कविता किया करते थे, चाहे वे भारत के किसी प्रान्त के निवासी हों। जब हिन्दी गद्य का प्रचार पर्याप्त रूप में हो गया, उसमे अनेक पत्र पत्रिकायें निकलने लगीं, तब हिन्दी कविता की भाषा के लिये भी आन्दोलन उठा कि हिन्दी कविता भी गद्य की उसी, बोल-चाल की और लिखने-पढने की भाषा में होनी चाहिये, ब्रजभाषा मे नहीं। इस आन्दोलन को विशेष रूप से उठाने वाले स्वर्गीय अयोध्याप्रसाद खत्री आदि कुछ महानुभाव थे। यह आन्दोलन कुछ दिनों तक बड़े ज़ोर से चला, जिसमे हिन्दी के बहुत से महारथी, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित श्रीधर पाठक आदि, सम्मिलित थे। ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली, के इस आन्दोलन में, इस

---

* रिसाला 'उर्दू' (त्रैमासिक), मास जूलाई सन् १९२३ ई०।

नाम का प्रयोग, ब्रजभाषा के मुक़ाबिले मे, बार बार किया गया। बाबू हरिश्चन्द्र भारतेन्दु ने अपनी पुस्तक 'अग्रवालो की उत्पत्ति' (सम्वत् १९२८ विक्रमी) की भूमिका में लिखा है—

"इनका (अग्रवालों का) मुख्य देश पश्चिमोत्तर प्रान्त है, और इनकी बोली, स्त्री और पुरुष सब की खड़ी बोली अर्थात् उर्दू है।"

भारतेन्दु जी के इस कथन का यह निष्कर्ष है कि वह बोलचाल की हिन्दी उर्दू मे भेद नहीं मानते थे, और उन्होंने 'खड़ी बोली' का प्रयोग यहाँ हिन्दुस्तानी के पर्याय रूप मे ही किया है। आजकल तो हिन्दी वालों में हिन्दी के लिए 'खडी बोली' नाम की ही तूती बोलती है—वर्तमान प्रचलित हिन्दी के लिये 'खड़ी बोली' नाम का ही प्रयोग सर्वाधिक होता है।

भारतेन्दुजी ने अपनी 'हिन्दी भाषा' नामक पुस्तक मे खड़ी बोली का 'नई भाषा' नाम भी लिखा है। बाबू हरिश्चन्द्र जी हिन्दी-कविता के लिये खड़ी बोली को उपयुक्त नहीं समझते थे, इसमे ब्रजभाषा के पक्षपाती थे। उन्होंने खड़ी बोली की कविता के उदाहरण में यह दोहा लिखा है, जिसका शीर्षक 'नई भाषा की कविता' है—

भजन करो श्रीकृष्ण का मिल करके सब लोग।
सिद्ध हो गया काम औ छूटेगा सब सोग॥

(हिन्दी भाषा, पृष्ठ १०)

बाबू हरिश्चन्द्र जी से पहले भी इस नाम का प्रयोग कहीं किसी ने किया हो, इसका पता नहीं चलता। भाषा का खड़ी बोली नाम क्यों और कैसे पड़ा, इसकी निरुक्ति या वजै तसमिया क्या है, इस पर भी कहीं कुछ लिखा नहीं मिलता। स्वर्गीय पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने एक जगह खड़ी बोली का ज़िक्र-ख़ैर बड़े अच्छे ढग से किया है, जिसमे इस शब्द की निरुक्ति की विनोदात्मक झलक पाई जाती है, और इसके लक्षण तथा स्वरूप की भी। गुलेरी जी ने लिखा है—

"खड़ी बोली या पक्की बोली या रेख़्ता या वर्तमान हिन्दी के आरम्भ-काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी अरबी तत्समों या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिन्दी तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिन्दू तो अपने घरों की प्रादेशिक और प्रान्तीय बोली में रँगे थे, उनकी परम्परागत मधुरता इन्हे प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की "पड़ी" भाषा को "खड़ी" कर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया। किसी प्रान्तीय भाषा से उनका परम्परागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्व-साधारण की या राष्ट्र-भाषा हो चली। हिन्दू अपने-अपने प्रान्त की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिन्दू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखा-पढी और साहित्य की भाषा हिन्दी हो, मुसलमानों मे बहुतों के घर की बोली खड़ी बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिन्दी की विभाषा है। किन्तु हिन्दुई भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई। फिर हिन्दुओं मे जाग्रति होने पर उन्होंने हिन्दी को अपना लिया, हिन्दी गद्य की भाषा लल्लूजीलाल के समय से आरम्भ होती है, उर्दू गद्य उससे पुराना है, खड़ी बोली की कविता हिन्दी में नई है। अभी तक ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा चल ही रहा था। उर्दू पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिन्दी गद्य और पद्य खड़े रूप मे मुसलमानी है। हिन्दू कवियों का यह सम्प्रदाय रहा है कि हिन्दू पात्रो से प्रादेशिक भाषा कहलाते थे और मुसलमान पात्रो से खड़ी बोली"

हिन्दी के कुछ और नाम

जिन नामों का उल्लेख उपर हो चुका है, उनके अतिरिक्त कुछ अन्य नाम भी हैं, जिनका प्रयोग हिन्दी भाषा के अर्थ में, कहीं विशेषण

रूप से और कहीं विशेष्य रूप से, किया जाता है, यथा—देवनागरी या नागरी, आर्य भाषा, राष्ट्र भाषा और राज भाषा।* इनमें से नागरी यद्यपि लिपि-विशेष या वर्णमाला का नाम है, पर कुछ लोग इसका प्रयोग भाषा के अर्थ में भी करते हैं। तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति 'आनन्द-कादम्बिनी' के सम्पादक स्वर्गीय पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने अपने सभापति के भाषण में कहा था—

"मैं सदा से उसे (हिन्दी को) 'नागरी भाषा' ही कहता और लिखता आया हूँ। वरञ्च "आनन्द-कादम्बिनी" के आरम्भ ही के अङ्क में मैंने "नागरी भाषा वा इस देश की बोलचाल" शीर्षक एक लेख लिखना आरम्भ किया था। कुछ लोग इसे 'आर्यभाषा' भी कहते हैं, परन्तु वास्तव में यह नाम भी ठीक नहीं है। मेरी समझ में इसका "भारतीय नागरी भाषा" नाम होना चाहिये।"

'नागरी' नाम के औचित्य के सम्बन्ध में 'प्रेमधन जी' ने जो हेतु दिया है, उसे भी सुन लीजिये—

"कितने कहते हैं कि नागरी तो वर्णमाला का नाम है भाषा का नहीं, किन्तु उन्हें जानना चाहिये कि भाषा और अक्षर का नित्य सम्बन्ध

---

* शेख बाजन, जो सन् ९१२ हिजरी में मरे, इसको 'ज़बान देहलवी' के नाम से याद करते हैं। वह कहते हैं—"सिफ़ते दुनिया बज़बान देहलवी गुफ़्ता।" ('पंजाब मे उर्दू,' पृष्ठ २१)

जिस प्रकार दक्षिण वालों ने इसका नाम 'दकनी' रक्खा, वैसे ही गुजरात वालों ने इसका नाम 'गुजराती' या 'गूजरी' रख दिया। शेख़ मुहम्मद 'ख़ूब' ने अपनी मसनवी 'ख़ूबतरङ्ग' (सन् ९८६ हि०) में इसको 'गुजराती बोली' नाम दिया है। ('पंजाब में उर्दू,' पृष्ठ २२)

मुहम्मद अमीन ने अपनी मसनवी 'यूसुफ़-ज़ुलैखा' (सन् ११०९ हि०) में इसे 'गूजरी' नाम से लिखा है। ('पंजाब में उर्दू,' पृ० २२)

है। संस्कृत वा पारसी (फारसी), उर्दू का अंगरेज़ी में लिखो कहने से उसी अक्षर का बोध होता है, जिसमें वह भाषा लिखी जाती है। जैसे उर्दू व अंगरेजी के अक्षर अपने दूसरे नाम रखते हुए भी इन भाषाओं के साथ इन्हीं के अक्षर का अर्थ देते हैं, वैसे ही नागरी वर्णमाला का सम्बन्ध नागर वा नागरी भाषा के साथ दोनों प्रकार से अटल है, जैसे कि पाली के अक्षर और भाषा दोनों का एक शब्द से बोध होता है।"

काशी नागरी प्रचारिणी सभा और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रयुक्त 'नागरी' शब्द हिन्दी के इसी नाम की ओर इशारा करता मालूम होता है, क्योंकि नागरी प्रचारिणी सभा के उद्देश मे हिन्दी भाषा और नागरी लिपि इन दोनों ही का प्रचार सम्मिलित है, केवल नागरी-लिपि का नहीं।

आर्य भाषा—हिन्दी के अर्थ में आर्यभाषा' शब्द का प्रचार और व्यवहार करने वाले सम्प्रदाय मे आर्यसमाज के प्रवर्तक श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी प्रमुख हैं। उन्होंने अपनी पुस्तकों मे हिन्दी की जगह सर्वत्र 'आर्यभाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है। पुराने ख़्याल के कट्टर आर्यसमाजी सज्जन आज भी इस शब्द के प्रचार के लिए तत्पर दिखाई देते हैं। गुरुकुलों के अधिवेशनों के साथ जो भाषा-सम्बन्धी परिषद् वा सम्मेलन होते हैं, उनके नाम नागरी व हिन्दी सम्मेलन न होकर 'आर्यभाषा-सम्मेलन' ही रक्खे जाते हैं। आर्यसमाजियों के अतिरिक्त भी कुछ लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्य-सेवी 'आर्यभाषा' नाम के समर्थक और पोषक रहे हैं, और हैं।

भागलपुर के चतुर्थ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में उसके सभापति महात्मा मुन्शीराम जी (बाद को स्वामी श्रद्धानन्द जी) ने अपने भाषण मे हिन्दी के स्थान मे सर्वत्र 'आर्यभाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है, और इस शब्द के प्रयोग के औचित्य मे यह हेतु दिया है—

"मैंने कई बार "आर्यभाषा" शब्द का प्रयोग किया है। जिसे आप "हिन्दी" कहते हैं उसे मैं आर्यभाषा कह कर पुकारता हूँ। इसका मुख्य कारण तो यह है कि आपके ही एक पूर्व माननीय सभापति के कथनानुसार इस भाषा की बुनियाद उस समय पड़ चुकी थी, जब यह देश हिन्दुस्तान नहीं वरन् आर्यावर्त कहलाता था। फिर इस भाषा को हम केवल हिन्दुओं की ही भाषा नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत सारे देश की राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं, जिसमें जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई—सभी सम्मिलित हैं, इसलिये मै इसे आर्यभाषा कहकर पुकारता हूँ।"*

इस प्रकार आपने 'आर्यभाषा' शब्द का प्रयोग 'हिन्दुस्तानी' के अर्थ मे किया है, 'आर्यभाषा' अर्थात् आर्यावर्त 'हिन्दुस्तान'—की भाषा।

इसके बाद, अगले वर्ष, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लखनऊ वाले पञ्चम अधिवेशन मे भी हिन्दी के बजाय 'आर्यभाषा' शब्द के व्यवहार पर कुछ चर्चा चली थी।

'राष्ट्र-भाषा' हिन्दी का नया नाम है, जो कभी विशेषण के रूप मे और कभी विशेष्य के रूप मे प्रयुक्त होता है। कभी 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' और कभी केवल 'राष्ट्रभाषा' शब्द से ही हिन्दी का बोध कराया जाता है। इस शब्द का जन्म और प्रचार विशेष रूप से राजनीतिक और साहित्यिक प्रगति के कारण हुआ है। यह बात सिद्ध रूप से मान ली गई है कि अपने व्यापक रूप और वाञ्छनीय गुणों के कारण हिन्दी ही देश की भाषा—राष्ट्र-भाषा—बन सकती है। इसी आधार पर हिन्दी का यह नया नामकरण हुआ है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अतिरिक्त हिन्दी की पत्र-पत्रिकाये भी इस नाम का विशेष रूप से प्रचार कर रही हैं।

---

* चतुर्थ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, भागलपुर, का कार्य विवरण, भाग प्रथम, पृष्ठ १९।

पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों से इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये कांग्रेस और प्रान्तीय राजनीतिक कान्फरेन्सों के साथ भी राष्ट्र-भाषा सम्मेलन हुआ करते हैं। यहाँ यह निवेदन कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसे सम्मेलन जहाँ हिन्दी-लिपि के प्रचार पर ज़ोर देते हैं, वहाँ भाषा को हिन्दुस्तानी बनाने का आदेश करते हैं। इसी लिये इन सम्मेलनों मे हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी सभी लोग समान भाव से भाग लेते हैं।

राज भाषा—कुछ विशेष विचारशील और दूरदर्शी विद्वानों की यह नई सूझ है कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा, नाम या विशेषण के रूप में, भारत की भाषा की 'भावनी सज्ञा' राजभाषा हो सकती है—कभी आगे चलकर वह 'राज-भाषा' के नाम से पुकारी जा सकती है—राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। इस मत का प्रतिपादन प्रयाग-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर श्री धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, ने अपनी हिन्दी राष्ट्र या सूबा हिन्दुस्तान नामक पठनीय पुस्तक में बडी योग्यता और मामिकना से किया है। उन्होंने लिखा है—

"हिन्दुस्तानी का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। महासभा* की कार्यवाही बहुत कुछ 'हिन्दुस्तानी' मे होने लगी है। सम्भव है भविष्य की भारत सरकार की राजभाषा हिन्दुस्तानी हो जावे, किन्तु तो भी यह सम्पूर्ण भारत के लोगों की मातृभाषा के समान नहीं हो सकती। हिन्दुस्तानी का भारत में अधिक से अधिक वैसा ही स्थान हो सकेगा जैसा कि आजकल अंग्रेज़ी शासन में अंग्रेज़ी का है, मुसलमान काल में फारसी का था, गुप्त साम्राज्य में संस्कृत, तथा मौर्य साम्राज्य में पाली का था। घोषणा-पत्र हिन्दुस्तानी में निकल सकते हैं, और सम्भव है उन्हें सम्पूर्ण भारत में थोड़ा बहुत समझ भी लिया जाय—

---

* कांग्रेस।

यद्यपि इसमे सन्देह भी है, क्योंकि अंग्रेज़ी घोषणाओं को समझने के लिये आजकल भी प्रान्तिक भाषाओं मे अनुवाद करना पड़ता है, और अशोक के आदेशों में भी प्रान्तिक प्राकृतों का प्रभाव पाया जाता है—किन्तु सम्पूर्ण भारत के लोगों के हृदयों तक तो हिन्दुस्तानी की पहुँच कभी नहीं हो सकती। चण्डीदास, तुकाराम, नरसी मेहता तथा बाबा नानक की सुधा-सूक्तियों के लिये तृषित आत्माओं की तृप्ति 'रामचरित मानस' अथवा सूरसागर कर सकेगा? ऐसी आशा करना अस्वाभाविक है। हिन्दुस्तानी भारत की 'राजभाषा' भले ही हो जाय, किन्तु 'राष्ट्रभाषा' नहीं हो सकती।"—(पृष्ठ १२-१३)

शैली भेद से ठेठ हिन्दी, शुद्ध हिन्दी और खिचड़ी हिन्दी इत्यादि भाषा के कुछ अटपटे नाम और भी घर लिये गये हैं, जिनका उल्लेख कुछ लेखकों ने किया है, पर इनका अन्तर्भाव इन्हीं पूर्वोक्त नामों मे हो जाता है। इसलिये इनपर पृथक विचार करने की आवश्यकता नहीं।

ससार मे एक वस्तु के अनेक नाम होते हैं। प्रत्येक नाम का कुछ न कुछ कारण भी होता है। फिर भी नाम भेद से वस्तु मे भेद नहीं हो जाता—जुदा जुदा नाम होने पर भी चीज़ एक ही रहती है। नाम एक प्रकार की उपाधि है, जिसे तात्त्विक दृष्टि से वेदान्त मे मिथ्या बतलाया है। फिर भी व्यवहार में बहुधा यह नाम भेद ही मतभेद और सम्प्रदाय-भेद का कारण बन जाता है। एक इष्टदेव के भिन्न भिन्न नामों को लेकर उपासक लोग आपस में लड़ने झगड़ने लगते हैं, और नामभेद के ही कारण अपने उपास्य या इष्टदेव के स्वरूप-भेद की न्यारी कल्पना कर लेते हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु नाम-भेद के कारण अनेक रूप धारण कर लेती है। अन्त मे नाम-भेद की यही मिथ्या भ्रान्ति उपासको के कलह का कारण बन जाती है।

हमारी हिन्दी भाषा एक थी, और एक है, पर हिन्दी और उर्दू के नाम-भेद से उसके दो जुदा जुदा रूप माने जाने लगे। उसके उपासकों

ने, अपनी अपनी रुचि और सस्कृति के अनुसार, उसकी विभिन्न आकार-प्रकार की दो मूर्तियाँ बनाकर खड़ी कर दी हैं। भाषा देश को एकता के सूत्र मे बाँधने का—जातीयता का—कारण होती है; लेकिन दुर्भाग्य से यहाँ उलटी बात हो रही है। एक ही भाषा, मिथ्या नाम-भेद के कारण भयङ्कर सम्प्रदाय-भेद का कारण बन रही है। ससार में और कहीं ऐसा अनोखा उदाहरण ढूँढ़े भी न मिलेगा। यह जितने आश्चर्य की बात है, उतनी ही दुर्भाग्य और दुःख की भी। नाम-भेद के कारण भाषा मे भेद कैसे पड़ गया—हिन्दी और उर्दू को जुदा जुदा करने वाले कारणों पर ठडे दिल से विचार करने की और, हो सके तो, उन्हें दूर करने की बड़ी ज़रूरत है।

भिन्नता के कारण

उर्दू लेखको मे फारसी और अरबी पढ़े लिखे विद्वानों की आरम्भ ही से अधिकता रही है, इसलिये उन्होंने उर्दू मे अरबी और फारसी के कठिन शब्दों का व्यवहार ही अधिकता से नहीं किया बल्कि व्याकरण और पिङ्गल मे भी अरबी फारसी के ही अस्वाभाविक और अनावश्यक नियमों का अनुकरण किया। यहाँ तक कि वह रस्मोरिवाज और ऋतु आदि के वर्णन मे भी फ़ारसी आदि दूसरे देशों के प्राकृतिक दृश्यों का ही समा बाँधते रहे, उपमान और उदाहरण सब उन्हें वहीं के सूझते रहे। वीरता के उल्लेख मे रुस्तम, पक्षियों मे बुलबुल, पुष्पों मे नरगिस, नदियों मे दजला और फरात, पहाड़ों मे तूर, प्रेमियों में क़ैस और फरहाद, सुन्दरता के आदर्श मे यूसुफ़, सुत-वत्सल पिता के उदाहरण में हज़रत याक़ूब, उदार दानियों मे हातिमताई, न्यायकर्त्ताओं मे नौशेरवाँ आदिल इत्यादि—भारत मे रहते भी उनकी दृष्टि इन दूर के विदेशी नामों पर ही पड़ती रहीं। उन्होंने यहाँ के भीम और अर्जुन, कोयल

और मोर, गङ्गा और जमुना, हिमालय और विन्ध्याचल, कर्ण और विक्रम आदि अनेक का कभी भूलकर भी वर्णन नहीं किया।

उर्दू लेखकों की इस प्रवृत्ति ने उर्दू को एक नये विदेशी साँचे में ढाल कर हिन्दी से बलात् पृथक् कर दिया। मज़हबी जोश ने भी भाषा के भेद को बढाने मे कुछ कम काम नहीं किया। यह लय बढ़ते बढते यहाँ तक बढ़ी कि उर्दू ख़ालिस हिन्दुस्तान के मुसलमानों की मज़हबी ज़बान समझी जाने लगी। इसी तरह हिन्दी भाषा हिन्दुओं की। यही भावना एक दूसरे के वैर-विरोध और बहिष्कार का कारण बन गई। उर्दू के प्रायः मुसलमान लेखकों ने, और उनके अनुकरण मे फ़साहत-परस्त हिन्दू लेखकों ने भी, ज़बान को 'उर्दू-ए-मुअल्ला' बनाने की धुन मे उसके भण्डार से एक एक हिन्दी-शब्द को बीन-बीन कर निकाल डाला और उनकी जगह कठिन, दुर्बोध और अप्रचलित अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों की भरमार कर दी। इसी प्रकार विशुद्ध हिन्दी के पक्षपातियों ने भाषा में व्यवहृत अनेक सरल और सुबोध प्रचलित उन फारसी तद्भव और तत्सम शब्दों को भी, जिन्हों ने हिन्दी का चोला धारण कर लिया था, अछूत समझ कर हिन्दी के मन्दिर से निकाल-बाहर किया और उनके स्थान पर संस्कृत के भारी-भारी पोथाधारी पण्डिताऊ शब्दों को बिठा दिया।* इस बारे मे 'तारीख़े-नसर उर्दू' के

---

* भाषा के इस 'कायाकल्प' के प्रसङ्ग में उस अधेड़ पति की हास्य-जनक दुर्गति का स्मरण हो आता है, जिसके एक वृद्धा और एक तरुणी दो घरवालियाँ थीं। वृद्धा उसे अपने समान पकी उम्र का प्रकट करने के लिये फ़ुरसत के वक़्त में उसके सिर से काले बाल बीना करती, और इसी तरह युवती सफ़ेद बाल चुनचुन कर निकाल डालती। दोनों की इस बदाबदी में कुछ दिनों के भीतर ही, घरवाले बेचारे का हुलिया ही बदल गया—दाढ़ी मूँछ और सिर के सारे बालों का सफ़ाया होकर रह गया।

विद्वान् लेखक, अलीगढ़ मुसलिम युनिवर्सिटी के उर्दू लेक्चरर मौलाना 'अह्सन' मारहरवी ने कितने पते की और कैसे इन्साफ़ की बात कही है :—

" ... साथ ही इसके यह ख़याल भी लाज़िमन् करना चाहिये कि हिन्दुस्तान में सिर्फ़ मुसलमान ही आबाद नहीं हैं, बल्कि उनसे बहुत पहले आरिया (आर्य) आबाद हो चुके हैं। अगर मुसलमान अपने साथ अरबी फारसी और तुर्की अलफ़ाज़ लाये हैं तो हमसाया अक़वाम (पड़ोसी जातियों) के पास भी संस्कृत और दूसरी प्राकृतें मौजूद हैं। उर्दू के जामा जेब जिस्म पर भारी-भारी लफ़्ज़ों का बार (भार) डालना उसकी असली और फितरी (प्राकृतिक) सूरत का बिगाड़ देना है। दस-बीस बरस मे यह वबा-ए-आम फैली हुई है कि ख़ास कदो काविश (जानबूझ कर—प्रयत्नपूर्वक) के साथ ग़ैर-मुरव्विज तरकीबें (अ-प्रचलित वाक्य-विन्यास) और नामूस (ग़ैर मानूस) अरबी व फ़ारसी अलफ़ाज़ का इस्तेमाल उर्दू इन्शा परदाज़ी (लेखन कला) का इम्ति-याज़ी निशान (विशेषतासूचक चिह्न) समझा जाता है। मुसलमानों की इस हरकत ने हिन्दुओं को भी निचला बैठने नहीं दिया और अब वह भी अपने हलके फुलके बयान को संस्कृत के भारी भरकम शब्दों से मिलाकर गुट्ठल करते जाते हैं। इसी ज़मन (प्रसङ्ग) में तीसरी रविशे-तहरीर उन अँगरेज़ीख़्वाँ उर्दूदानों की है, जिनको यह मरज़ लाहक़ हो गया है (रोग लग गया है), कि उर्दू के एक लफ़्ज के बाद जब तक चार लफ़्ज़ अँगरेज़ी के न बोलें, सेहते ज़बान पर यक़ीन नहीं कर सकते।" ('तारीख़ नसर उर्दू,' मुकद्दमा, पृ० २९-३०)

भाषा को दो भागों मे विभक्त करने वाला यह व्यापक रोग या 'वबा-ए-आम,' जिसका उल्लेख मौ० अहसन ने ऊपर किया है, सिर्फ़ दस बीस साल से ही नहीं बल्कि उससे बहुत पहले फैल चुका था, जिसका पता हज़ारों कोस दूर के विद्वानों को भी लग गया था। प्रसिद्ध

फ्रेंच विद्वान गार्सा द' तासी ने अपने पाँचवे व्याख्यान (सन् १८५४ ई०) में इस भाषा भेद के सम्बन्ध मे यह निष्कर्ष निकाला है :—

"हिन्दुस्तान की यह ज़बान, जिसे ख़ास तौर पर हिन्दुस्तान की ज़बान कहा जाता है, हिन्दी और उर्दू बोलियों में तक़सीम हो गई, जिसकी बिना (नींव) मज़हब पर है। क्योंकि आम तौर पर यो भी कहा जाता है कि हिन्दी हिन्दुओ की ज़बान है और उर्दू मुसलमानों की। यह वाक़आ (घटना) इस क़दर सही है कि जिन हिन्दुओं ने उर्दू मे इन्शापरदाज़ी की है, उन्होंने न सिर्फ मुसलमानो के तर्ज़े-तहरीर की नक़ल की है बल्कि इसलामी ख़यालात को भी यहाँ तक जज़्ब (आत्मसात्) किया है कि, उनके अशआर पढते वक्त बमुश्किल इस अमर का यक़ीन होता है कि यह किसी हिन्दू के लिखे हुए हैं।"*

ऊपर के इन दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाषा-भेद का प्रारम्भ उर्दू-लेखकों ने किया और इन्हीं की कृपा से भाषा पर मज़हबी रग भी चढ़ा। और अफसोस की बात यह है कि भाषा मे ही नहीं दो जातियो मे भी भेद बढाने वाला यह मज़हबी रग अब तक बराबर चढाया जा रहा है। यहाँ तक कि उर्दू इतिहास के प्रसङ्ग मे भी बहुत से मुसलमान विद्वान लेखक खोज-खोज कर और खोद-खोद कर कभी कभी ऐसी बाते लिख जाते हैं जिनमे सख़्त मज़हबी तअस्सुब की बू आती है। पञ्जाब मे "उर्दू" के लेखक जनाब हाफिज महमूद खाँ साहब शेरानो (प्रोफेसर इसलामिया कालिज लाहोर और लेक्चरर पजाब यूनिवर्सिटी) ने अपनी किताब मे पजाब में उर्दू की उत्पत्ति और प्रचार का इतिहास लिखते हुए उर्दू के उत्पादक उलमा (विद्वज्जनों) के बयान मे एक जगह लिखा है—

---

* मूल फ्रान्सीसी उर्दू भाषान्तर, रिसाला 'उर्दू' मास अक्टूबर सन् १९२२ ई०।

"उलमा में सबसे मुक़द्दम (मुख्य) शेख़ इस्माइल लाहौरी मुतवफ़्फ़ी (परलोकगत) सन् ४४८ हिजरी हैं, जो जामा-उलूम ज़ाहिरी व बातिनी (परा और अपरा विद्याओं के भण्डार) थे। आप सादात बुख़ारा से हैं और लाहोर के पहले वाइज़ (धर्मोपदेशक)। सन् ३९५ हिजरी मे बुख़ारा से लाहोर तशरीफ लाये और यहीं आबाद हो गये। आपकी मजालिसे-वाज़ (व्याख्यान-सभाओं) में मख़लूक (जनता) कसरत से जमा होती थी। हिन्दू हज़ारों की तादाद में आपके वाज़ (धर्मोपदेश) सुन-सुनकर हलक़ा बगोश इसलाम (दीन इसलाम के ग़ुलाम) हुए। कहा जाता है कि आपने पहले जुमे मे ढाई सौ, दूसरे में पाँच सौ पचास और तीसरे मे एक हज़ार हिन्दू मुशर्रफ बइसलाम (इसलाम मे दीक्षित) किये।"* ऐसी ही मत-विद्वेष वर्द्धक कहानी 'विकट कहानी' के लेखक मौलाना मुहम्मद अफ़ज़ल झझानवी या पानीपती के बारे मे बिस्तार से लिखी है, जो एक हिन्दू बच्चे गोपाल पर आशिक़ थे, और जिन्होंने बड़े ही घृणित उपायों से एक हिन्दू औरत को मुसलमान बनाकर उसे अपनी अहलिया (घरवाली) बनाया था।†

इस पुस्तक मे और भी अनेक उर्दू प्रचारकों का वर्णन इसी रूप में किया गया है, जिन्हें पढ़कर यही मालूम होता है कि 'पंजाब में उर्दू' का लेखक उर्दू का नहीं पञ्जाब मे इसलाम के प्रचार का इतिहास लिख रहा है। वह इसलाम को और उर्दू को एक ही समझता है; उसकी दृष्टि मे उर्दू का महत्व इसीलिये है कि वह हिन्दुस्तान में इसलाम के प्रचार का एक साधन थी और उर्दू के उत्पादक और प्रचारक

---

* 'पंजाब में उर्दू', पृष्ठ ३३।

† यह कहानी 'पंजाब में उर्दू' के पृष्ठ १७१-८३ पर बड़े विस्तार से लिखी है।

ज्यादातर शेख़ इस्माइल लाहोरी और अफ़ज़ल झझानवी जैसे मौलाना लोग थे।

उर्दू के प्रचार और उसके साहित्य की वृद्धि में हिन्दुओं का हाथ कुछ कम नहीं है—उर्दू को इस उन्नत दशा मे पहुँचाने का श्रेय बहुत कुछ हिन्दुओ को भी है, जिसे कई निष्पक्ष मुसलमान लेखकों ने भी स्वीकार किया है; पर उर्दू के आदर्श लेखक सदा से सिर्फ मुसलमान ही माने जाते रहे हैं। हिन्दुओं की उर्दू टकसाल बाहर या नगण्य ही समझी गई है। 'दरिया-ए-लताफत' मे सय्यद इन्शा फरमाते हैं—

"बर साहबे-तमीजाँ पोशीदा नीस्त कि हिन्दुआँ सलीक़ा दर रफ़्तारो-गुफ़्तार व खुराको पोशाक अज मुसलमानान याद गिरफ़्तअन्द। दर हेच मुक़ाम क़ौलोफेल ईहाँ मानते ऐतबार न भी तमानाद शुद।"*

अर्थात्—बुद्धिमानों से यह बात छिपी नहीं है कि हिन्दुओं ने बोलचाल-चालढाल खाना और पहनना इन सब बातों का सलीक़ा मुसलमानों से सीखा है, किसी बात मे भी इनका क़ौल-फेल ऐतबार के क़ाबिल नहीं।

उस जगद्गुरु हिन्दू जाति के विषय मे, जिसने ससार को सबसे पहले सभ्यता का पाठ पढाया और आचारव्यवहार सिखाकर मनुष्य बनाया, 'इन्शा' का यह फतवा कहाँ तक उचित है, इसका निर्णय इतिहासज्ञ विद्वान् ही कर सकते हैं। 'इन्शा' के इस उद्गार पर तो यही शेर सादिक़ आ रहा है—

"चोट थी तेरी सुख़न पर जा पड़ी इख़लाक़ पर,
तू ने चाके पैरहन को ताजिगर पहुँचा दिया।"

ख़ैर। सय्यद गुलाम मुहीउद्दीन क़ादरी, एम० ए०, ('उर्दू के असालीब बयान' के लेखक) के कथनानुसार "इन्शाअल्ला ख़ाँ उस

* 'दरिया-ए-लताफ़ त,' दुरदान-ए-दोम (दूसरा अध्याय पृष्ठ १।

दौर के इन्सान थे, जो उर्दू ज़बान का 'अहदे-जाहिलिया' कहा जा सकता है;" पर आश्चर्य तो यह है कि इस रोशनी के ज़माने में भी बड़े बड़े रोशन-दिमाग़ कभी कभी ऐसी बहकी बातें दोहराने में दरेग़ नहीं करते। नव्वाब सदर यार जंग जनाब मौलाना हबीबुर्रहमान ख़ाँ साहब शिरवानी ने लाहोर ओरियंटल कान्फ़रेन्स वाले अपने खुतबं-ए सदारत (सभापति के अभिभाषण सन् १९२८ ई०) में गोस्वामी तुलसीदासजी के सम्बन्ध में, ग्रियर्सन साहब की इस प्रशंसात्मक सम्मति को अपने शब्दों में उद्धृत करके, कि "गौतम बुद्ध के बाद हिन्दुस्तान ने ऐसा सपूत पैदा नहीं किया। तौहीद (अद्वैत) और सेहते-नज़र (तत्त्वदर्शिनी दृष्टि) ने इसके (तुलसीदास जी के) कलाम (कविता) को हक़ीक़त का राज़दाँ (परमार्थ का रहस्यज्ञ पारखी) बनाकर बक़ाए-दवाम का खिलअत दिया (अमरता का पाद प्रदान किया)।" मौलाना साहब फ़रमाते हैं कि, "सवाल यह है कि यह तौहीद और सेहते-नज़र कहाँ सीखी? जवाब वाक़आत से सुनो, इसी अकबरी दरबार में··· ···।"

शिरवानी साहब के इस कथन का तो यही अभिप्राय है कि गोस्वामी तुलसीदास जी अकबरी दरबार के एक विद्यार्थी थे—उन्होंने जो कुछ सीखा अकबर के दरबार में, उनके आश्रय में, रहकर सीखा। अकबर के सुशासन का समय या उनका दरबार नसीब न होता तो वह राम-चरित-मानस की रचना भी न कर सकते, जिसने उन्हें अमर कर दिया है।

अद्वैतवाद, जो इसलाम से हज़ारों वर्ष पूर्व उपनिषदों में विस्पष्ट और विस्तृत रूप से वर्णित है—गौड़-पादाचार्य, शङ्कराचार्य और उनसे भी पहले पाशुपत सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों ने जिसे अद्वितीय दार्शनिकता का रूप प्रदान किया, जिसकी अपूर्वता पर दारा शिकोह और पाल ड्यूसन मोहित होकर प्रशंसा करते नहीं थकते, उसे

मुसलमान शासनकाल की या इसलाम की देन या अतिया या उपज बतलाना एक आश्चर्यजनक ऐतिहासिक अन्धेर है। तुलसीदास जी ने अपने राम-चरित-मानस के सम्बन्ध मे स्पष्ट लिखा है कि वह 'नाना पुराण-निगमागम-सम्मत" है—अर्थात् उसकी रचना अनेक पुराणों और शास्त्रों के आधार पर की गई है. और केवल "स्वान्तः सुखाय" की गई है, किसी दरबार की प्रेरणा से, उसके आश्रय में रहकर, उससे शिक्षा ग्रहण करके या किसी को प्रसन्न करने के निमित्त नहीं।

गोस्वामी तुलसीदास जी अपनी अमर रचना के लिये या उस बात के लिये, जिसके कारण डा० ग्रियर्सन ने उनकी वैसी प्रशंसा की है, यदि किसी के ऋणी हो सकते हैं तो वह नाना पुराण निगमागम के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि और कृष्ण द्वैपायन व्यास आदि के, और उनसे भी अधिक भगवान रामचन्द्र के। यही सच्चे 'वाक़आत' हैं। अकबरी दरबार को इसका ज़रा भी क्रेडिट नहीं दिया जा सकता।

तुलसीदास जी का अकबर के दरबार से कुछ भी सम्बन्ध रहा, इसका पता किसी भी पुराने इतिहास में नहीं मिलता। निस्सन्देह अकबर बड़ा उदार और गुणियों का क़दरदान बादशाह था। उसका शासन बहुत सी बातों में आदर्श, अनुकरणीय और प्रशसनीय था, उसके दरबार में अनेक हिन्दू विद्वान् कवि और दार्शनिक थे, या किसी न किसी रूप में उनका दरबार से सम्बन्ध था, जिसका विवरण 'आईन-ए-अकबरी' में दिया हुआ है, पर उनमें गोस्वामी तुलसीदास जी का नाम कहीं भी नहीं है। तुलसीदास जी की प्रशसा करते हुए सुप्रसिद्ध विन्सेन्ट स्मिथ साहब ने अपने इतिहास मे लिखा है—

"...... उनका (तुलसीदास जी का) नाम आपको आईन-ए-अकबरी या किसी दूसरे मुसलमान इतिहासकार के ग्रन्थ में कहीं न मिलेगा। फ़ारसी तवारीखों के आधार पर लिखनेवाले यूरोपियन यात्रियों के वृत्तान्तों में उसका कहीं ज़िक्र नहीं है। फिर भी वह हिन्दू भारत में

अपने समय का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति था और उसका आसन अकबर से कहीं ऊँचा था। अकबर ने अपने शत्रुओं पर विजय अवश्य प्राप्त की, उनको अपने वश में करके छोड़ा; पर इस कवि ने तो लाखों करोड़ों हृदयों पर अपना अधिकार जमा लिया—उन्हें सदा के लिये अपने वश में कर लिया। महत्त्व या स्थायित्त्व मे अकबर की कोई भी विजय या दिग्विजय इस महाकवि की विजय की बराबरी नहीं कर सकती "※

इस अप्रिय प्रसङ्ग को यहाँ इस प्रसङ्ग में छेड़ने से मेरा अभिप्राय किसी पर आक्षेप करने का नहीं है। यह चर्चा इस जगह केवल इसी उद्देश से करनी पड़ी कि मज़हबी तअ़स्सुब भाषा के भेद में किस प्रकार कारण बनता रहा है और बन रहा है, और मालूम हो सके कि गार्सां द' तासी के इस कथन मे कि, धार्मिक भेदभाव भाषा के भेद का प्रधान कारण हुआ है, कहाँ तक यथार्थता है।

मुसलमान लेखक उर्दू पर अपने एकाधिपत्य की सदा से घोषणा करते आये हैं। उनकी इस प्रवृत्ति ने उर्दू को हिन्दी से बिलकुल पृथक् करके उसे ख़ालिस मुसलमानों की ज़बान बना दिया। सैयद इन्शा ने 'दरिया-ए-लताफ़त' में लिखा है—

"......... محاورۂ اردو عبارت از گویائی اهل اسلام است "-

"मुहावर-उर्दू-इबारत अज़ गोयाई अहले इसलाम अस्त।" (पृष्ठ ५)

अर्थात्—उर्दू से मतलब मुसलमानों की बोलचाल से है।

शम्सुलउलमा मौलाना अलताफ़ हुसेन साहब हाली ने मुन्शी सय्यद अहमद देहलवी की 'फ़रहगे-आसफ़िया' पर रिव्यू करते हुए (सन् १८८७ ई० में) प्रकारान्तर से यही बात विस्तारपूर्वक प्रतिपादित की है—

※विशाल भारत' में प्रकाशित 'अकबर का विद्याप्रेम' शीर्षक श्रीयुत पारसनाथ सिंह, बी० ए०, एल-एल० बी० का लेख।

"उर्दू डिक्शनरी लिखने के लिये दो निहायत ज़रूरी शर्तें थीं। एक यह कि उसका लिखने वाला किसी ऐसे शहर का बाशिन्दा हो जहाँ की ज़बान तमाम हिन्दुस्तान मे मुस्तनद (प्रामाणिक) समझी जाती हो और ऐसे तमाम हिन्दुस्तान मे सिर्फ़ दो शहर माने गये हैं—दिल्ली और लखनऊ। मगर मैं दिल्ली को लखनऊ पर तरजीह देता हूँ। अगर्चे उर्दू ज़बान का वह हिस्सा, जिसको ज़्यादातर ख़वास शिष्ट समाज के शिक्षित लोग इस्तेमाल करते हैं, देहली व लखनऊ में चन्दाँ (अधिक) तफ़ावत (भेद) नहीं रखता, लेकिन अवाम (जन-साधारण) की ज़बान, जिससे अहले-हरफ़ा (कारीगर लोग) व अहले-बाज़ार (दुकान-दार लोग) के मुहावरात व इस्तलाहात मुराद हैं, और जो ज़बान का बहुत बड़ा हिस्सा और आजकल डिक्शनरी का जुज़्वे-आज़म (मुख्य भाग) है, वह देहली में बनिस्बत लखनऊ के ज़्यादा मुस्तनद समझे जाने के लायक़ है। शाहाने-अवध के मूरिसे-आला (पूर्वजों) के साथ जो ख़ानदान देहली से बिगड़ कर लखनऊ गये थे, वह अक्सर देहली के उमरा व शुरफ़ा के ख़ानदान थे, जिनके अक़ाबो-अख़लाफ़ (वंशज) आसफ़ुद्दौला बल्कि सआदत अली ख़ाँ के ज़माने तक तमाम दरबार पर हावी रहे, इसलिये आला तबक़े में (प्रतिष्ठित समाज में) उन्हीं की ज़बान जारी हुई। लेकिन देहली के अदना तबक़ों (नीची श्रेणी) में से अगर कुछ लोग वहाँ गये भी हों तो उनकी तादात इस क़दर हरगिज़ नहीं हो सकती कि उनकी ज़बान लखनऊ के तमाम अवामुन्नास (सर्वसाधारण) की ज़बान पर ग़ालिब आ जाय। इसलिये ज़रूरी है कि लखनऊ के अदना तबक़ों की ज़बान उस ज़बान से मुग़ायर (भिन्न) हो, जो देहली के उन्हीं तबक़ों में मुतदावल (प्रचलित) थी। पस, हमारे नज़दीक सिर्फ़ दिल्ली ही की ज़बान ऐसी है जिसपर उर्दू डिक्शनरी की बुनियाद रक्खी जाय।

"दूसरी शर्त यह थी कि डिक्शनरी लिखनेवाला शरीफ़ मुसलमान

हो, क्योंकि ख़ुद देहली में भी फ़सीह उर्दू सिर्फ़ मुसलमानों ही की ज़बान समझी जाती है। हिन्दुओं की सोशल हालत (सामाजिक अवस्था) उर्दू-ए-मुअल्ला को उनकी मादरी-ज़बान (मातृभाषा) नहीं होने देती। कमाल ख़ुशी की बात है कि हमारी मुल्की ज़बान की पहली डिक्शनरी, जिस पर तमाम आयन्दा डिक्शनारियों की नींव रखी जायगी, एक ऐसे शख़्स ने लिखी है जिसमें दोनों जरूरी शर्तें मौजूद हैं"*

उर्दू या 'उर्दू-ए-मुअल्ला' की इस ज़रूरी शर्त ने उर्दू के हिन्दू लेखकों को भी सब प्रकार से मुसलमान उर्दू-लेखकों का अनुयायी बनने को मज़बूर कर दिया। वह भी उर्दू का सुलेखक कहलाने के लिए इस रंग में लिखने लगे, जिसका नतीजा यह हुआ कि सही उर्दू वही समझी जाने लगी, जिसमे मुसलमानों के तर्ज़े-तहरीर की नक़ल की जाय, "इस-लामी ख़यालात और जज़बात" उसी रूप में प्रकट किये जायँ, जिस प्रकार मुसलमान लेखक करते हैं। उर्दू पर इस प्रकार इसलामी रंग चढ़ता देखकर हिन्दीवाले हिन्दू भी चेते, और जनाब अहसन मारहरवी के लफ्ज़ों में, "मुसलमानों की इस हरकत ने हिन्दुओं को भी निचला बैठने नहीं दिया"—उन्होंने अपनी हिन्दी को ख़ालिस हिन्दू रंग में रंगना शुरू कर दिया। उर्दू का निराला रंग-ढंग देखकर उन्होंने भी उर्दू और हिन्दी के भेद की दिगन्तभेदी शङ्खध्वनि कर दी। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के एक विद्वान् सभापति को अपने भाषण में यह उद्-गार प्रकट करने की 'व्यवस्था' देने को विवश होना पड़ा—

"........ऐसी दशा में सर्वथा विदेशीय वाक्यावली से विकृत, प्रायः सब बातों में उलटी ही चलनेवाली, स्वधर्मभ्रष्ट उर्दू को पूरे परि-वर्तित विचित्र रूप में सुस्पष्ट भिन्नाकृति को प्रत्यक्ष देखकर भी अब बुद्धि-

*मुंशी सैयद अहमद देहलवी के 'फरहंगे आसफ़िया' पर मौलाना हाली का रिव्यू; 'मज़ामीन हाली', पृष्ठ १२८।

मान उसे हिन्दी से अभिन्न मान कैसे अपना सकते हैं ? इसकी लेख-प्रणाली उलटी, वर्णमाला स्वतन्त्र, रुपये में पन्द्रह आने शब्द भी विदेशीय और अपरिचित। वाक्य-रचना भी हमारे साहित्य और व्याकरण से सम्पूर्ण विरुद्ध, दोषयुक्त और अशुद्ध। इतने अनैक्य पर भी इसकी (उर्दू की) हिन्दी से एकरूपता वा अभिन्नता किस न्यायानुसार मानी जा सकती है ? इसलिए ही हिन्दी भाषा के जितने अच्छे से अच्छे पूर्वाचार्य, कवि और विद्वान् हो गये, सब ने हिन्दी से उर्दू को विशेष बिगड़ी हुई एक भिन्न उपभाषा ही माना। इनको (हिन्दी, उर्दू को) एक तो उनमें एक ने भी नहीं माना।''*

व्याकरण-भेद

हिन्दी उर्दू का व्याकरण-भेद भी दोनों भाषाओं को पृथक् करने का एक प्रधान कारण हुआ है। राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द हिन्दी उर्दू को एक ही समझने और मानने वाले थे। दोनो भाषाओं के भेद के कारणों को दूर करके एक करने का उन्होंने बहुत प्रयत्न किया। इस कारण उन्हें विशुद्ध-हिन्दी-वादियों का कोप भाजन भी बनना पड़ा था। ग्रियर्सन साहब ने, राजा साहब के विषय में लिखा है—

"वह (राजा साहब) अपने इस प्रयत्न के लिये प्रसिद्ध हैं कि हिन्दुस्तानी भाषा की एक ऐसी शैली सर्वसाधारण में प्रचलित हो जाय जिसको वह आगरा, दिल्ली और लखनऊ या ख़ास हिन्दुस्तान [युक्त-प्रान्त वा सूबा हिन्दुस्तान (?)] की आम बोली या सर्वसाधारण की भाषा कहते हैं, जो फ़ारसी के बोझ से दबी हुई उर्दू और संस्कृत के भार से आक्रान्त हिन्दी के बीचोबीच है। इस कोशिश ने एक गर्मागर्म

---

*द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) के सभापति स्वर्गीय पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र की वक्तृता; पृष्ठ ४०-४१।

और विवादास्पद वितण्डावाद हिन्द निवासियों के बीच पैदा कर दिया है।"❀

व्याकरण का यह भेद भाषा के भेद में किस तरह कारण बना—जुदा-जुदा दो व्याकरण कैसे बने, राजा साहब ने इसकी रोचक राम-कहानी इस तरह लिखी है—

"यह बड़ी विचित्र बात है कि हमारी देशी भाषा बराबर ऐसी दो लिपियों मे अनिवार्य रूप से लिखी जाय जैसे फ़ारसी और नागरी। एक सीधी तरफ़ से लिखी जाती है, दूसरी उल्टी ओर से; पर यह बिलकुल ही अनोखी बात है कि इसके व्याकरण भी दो हों। यह हिमाक़त डा० गिलक्राइस्ट के वक्त के पण्डितों और मौलवियों की बदौलत पैदा हुई। वह (मौलवी और पण्डित) नियुक्त तो इस बात के लिये हुये थे कि उत्तर भारत की सार्वजनिक बोली का एक ऐसा व्याकरण बनावे जो समान रूप से सब के काम का हो, पर उन्होंने दो व्याकरण गढ कर रख दिये। एक ख़ालिस फ़ारसी अरबी का, दूसरा ख़ालिस सस्कृत प्राकृत का। उर्दू के व्याकरण-निर्माता मौलवी सस्कृत से अनभिज्ञ थे और उन्होंने इस बात पर दृष्टि न दी की हमारी भाषा की जड़-बुनियाद आर्यन (Aryan—आर्य) है। इसी तरह पण्डित सेमेटिक (Semetic) या सामी (अनार्य) भाषा* के प्रभाव को सहन करने की शक्ति न रखते थे। यहाँ से वह 'उर्दू-ए-फ़ारसी' (फ़ारसीमय उर्दू) निकली जो सरकारी दफ़्तरों में है, जिसको आम आबादी नहीं समझ सकती है। उसी तरह "प्रेमसागर" की ख़ालिस हिन्दी सब को बोधगम्य नहीं है। एक तो क़ौमियत (भारतीयता) से इस क़दर छूछी है कि सब लोग उसे स्वीकार नहीं कर सकते। दूसरी

❀ ग्रियर्सन साहब लिखित 'Modern Vernacular Literature of Hindustan', पृष्ठ १४८।

बाल्योचित भोलेपन में उन घटनाओं से इनकार करती है जिनके असर से उर्दू एक ज़बान बन गई। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि देशी भाषा की पाठशालाओं का ऐसा व्याकरण बनने की जगह, जो फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियों में बेखटके लिखा जाय,··· हमारे यहाँ दो परस्पर विरोधी श्रेणियों की पुस्तकें हैं—एक मुसलमान और कायस्थों के लिये, दूसरी ब्राह्मण और बनियों के लिये।"*

राजा साहब दूसरी जगह लिखते हैं—

"नादान मौलवियों और पण्डित दोनों की यह बड़ी भूल है कि एक तो सिवाय क्रिया-पदों और कारक-चिह्नों के बाक़ी सब शब्द सही फ़ारसी अरबी के काम मे लाना चाहते हैं, और दूसरे विशुद्ध पाणिनि की टकसाल की ढली खरी खरी संस्कृत। इसके मानी तो यह हैं कि यह जो हज़ारों बरस से हमीं लोग विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर हज़ारो रद्दोबदल अपनी बोली में करते चले आये हैं, वह इनके रत्ती भर भी लिहाज के क़ाबिल नहीं। बल्कि स्वाभाविक नियमों और परम्परा की भी इन्होंने कोई परवा न की। अति कठोर संस्कृत शब्दों को, जो हज़ारों बरस तक दाँत, होठ और जीभ से टकराते-टकराते गोलमटोल (सुडोल) पहाड़ी नदी की बटिया बन गये हैं, पण्डितजी फिर वैसे ही खुरदरे सिंघाड़े की तरह नुकीले पत्थर के ढोके बनाना चाहते हैं, जैसे वे नदी में पड़ने से पहले पहाड़ से टूटने के वक्त रहते हैं। और मौलवी साहब अपने ऐन-क़ाफ़ काम में लाना चाहते हैं कि बेचारे लड़के बलबलाते-बलबलाते ऊँट ही बन जाते हैं। पर तमाशा यह है कि इधर तो मौलवी साहब या पण्डितजी एक लफ़्ज़ सही करने में या परदेसी होने के क़ुसूर मे इसे कालेपानी जाने का हुक्म देते हैं और उधर तब तक

* राजा साहब के उर्दू 'सरफ़ नहो' (उर्दू-व्याकरण) की अँगरेज़ी भूमिका।

लोग सौ लफ़्ज़ों को बदलकर कुछ का कुछ बना देते हैं। इस देश की बोली को फ़ारसी, अरबी, तुर्की और अँगरेज़ी लफ़्ज़ों से ख़ाली करने की कोशिश वैसी ही है, जैसे कोई अँगरेज़ी को यूनानी, रूमी, फ़रान्सीसी वग़ैरह परदेशी लफ़्ज़ों से ख़ाली करना चाहे। या जैसे वह हज़ारों बरस पहले बोली जाती थी, उसके अब बोलने की तदबीर करे।"*

राजा साहब ने उर्दू हिन्दी को जुदा करने वाले व्याकरण के जिस स्कूल की ऊपर ख़बर ली है, वह अब तक बदस्तूर क़ायम है। आज भी हिन्दी, उर्दू के मदरसों और पाठशालाओं मे उन्हीं भाषा-भेद को बढ़ानेवाले और परस्पर-विरोधी, व्याकरणों का प्रचार है, जो आज से पचास वर्ष पहले था। मौलाना अब्दुलहक़ (अजमुन तरक्क़ी-ए-उर्दू के सेक्रेटरी और त्रैमासिक 'उर्दू' के सुयोग्य सम्पादक) ने भी अपनी 'क़वायदे-उर्दू' की भूमिका मे यही बात लिखी है। राजा साहब के उक्त मत की प्रकारान्तर से पुष्टि की है। मौलाना के कथन का भावार्थ यह है—

"हमारे यहाँ अब तक जो पुस्तकें व्याकरण की प्रचलित हैं, उनमें अरबी व्याकरण का अनुकरण किया गया है। उर्दू ख़ालिस हिन्दी ज़बान है और इसका सम्बन्ध सीधा आर्य भाषाओं से है। इसके विरुद्ध अरबी भाषा का ताल्लुक़ सेमेटिक (सामी—अनार्य) भाषाओं के परिवार से है। इसलिये उर्दू का व्याकरण लिखने में अरबी ज़बान का अनुकरण किसी तरह जायज़ नहीं। दोनो ज़बानों की विशेषताएं बिलकुल पृथक् पृथक हैं, जो विचारने से स्पष्ट प्रतीत हो जायगा। इसी तरह अगर्चे उर्दू हिन्दुस्तान में जन्मी है और इसकी बुनियाद पुरानी हिन्दी पर है—क्रियापद, जो भाषा का प्रधान अंग हैं, और सर्वनाम तथा

---

* राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के उर्दू-व्याकरण का तितिम्मा (परिशिष्ठ) सन् १८७७ ई० में प्रकाशित।

कारक-चिह्न सबके सब हिन्दी हैं, सिर्फ़ संज्ञा और विशेषण अरबी फ़ारसी के दाख़िल हो गये हैं और कुछ थोड़े से नामधातु, जो अरबी फ़ारसी अलफ़ाज़ से बन गये हैं—जैसे बख़्शना, क़बूलना, तजवीज़ना वग़ैर:—वह किसी शुमार में नहीं। बल्कि कुछ प्रतिष्ठित लोगों के मत में ऐसे पद सही भी नहीं। फिर भी उर्दू भाषा के व्याकरण में संस्कृत नियमों की भी परिपाटी का पालन नहीं किया जा सकता, इत्यादि।"*

नाम-भेद से भाषा में भेद यदि यहीं तक रहता कि एक भाषा के दो विभाग होकर रह जाते—हिन्दीवाले यह कहकर ही सन्तोष कर लेते कि उर्दू हिन्दी की एक उपभाषा है, उसका एक विकृत रूप है, जैसा कि पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र के भाषण के उद्धरण में हम पहले दिखा चुके हैं, और उर्दू वाले 'क़वायदे उर्दू' के लेखक मौ० अब्दुल-हक़ साहब की तरह यही कहकर बस करते कि "यह (उर्दू) दर असल किसी प्राकृत या हिन्दी की बिगड़ी हुई सूरत नहीं बल्कि हिन्दी की आख़िरी और शाइस्ता सूरत है"—तो भी ग़नीमत था, समझौते की कोई सूरत निकल आती। लेकिन मामला इससे कहीं आगे बढ़ गया है, दोनों फ़रीक़ एक दूसरे को देख नहीं सकते; एक दूसरे की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। बाज़ी बदकर और यह कहकर मैदान में डटे हैं:—

> **"हम और रक़ीब दोनों यक जा बहम न होंगे,**
> **हम होंगे वह न होगा, वह होगा हम न होंगे।"**

उर्दू वाले उर्दू को उसके आर्य-परिवार से निकाल कर दूसरे गिरोह (सामी-ख़ानदान) में ज़बरदस्ती दाख़िल कर रहे हैं, और विशुद्धतावादी हिन्दी वाले कुछ विदेशी शब्दों के सम्पर्क से 'स्वधर्म' भ्रष्ट हुई भाषा को बहिष्कार का दण्ड दे रहे हैं। उसे हिन्दी मानने को

---

* 'क़वायदे-उर्दू' मुक़द्दमा, पृष्ठ १८।

किसी तरह तय्यार नहीं, इस तरह इन दो मुल्लाओं के बीच बेचारी भाषा की मुर्ग़ी हलाल हो रही है।

इन दोनों फरीकों मे कुछ समझदार लोग हैं, जो समझौते की कोशिश कर रहे हैं, पर मामला अभी सुलझने मे नहीं आता। 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' की अदालते-आलिया मे यह मामला बाहम सुलह सफाई से तय हो जाय तो बडी खुशक़िस्मती की बात होगी। इसीलिये यहाँ मामले के दोनों पहलू पेश किये जा रहे हैं। हिन्दी उर्दू की एकता के पुराने हामी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की शहादत आप सुन चुके हैं। जो लोग अरबी और फारसी का जामा पहना कर उर्दू को ज़बरदस्ती उसके हिन्दी या आर्य परिवार से जुदा करने की जद्दो-जहद कर रहे हैं, वह उर्दू के ज़बरदस्त अल्लामा स्वर्गीय मौलवी सय्यद वहीदुद्दीन साहब 'सलीम' पानीपती (प्रोफेसर उसमानिया कालिज) की बेलाग शहादत और नेक सलाह कान खोलकर ज़रा तवज्जह से सुनें। 'सलीम' साहब अपनी 'वज़ै इस्तलाहात' (परिभाषा-निर्माण शास्त्र) मे कहते हैं—

"हमारे बाज़ दोस्त उर्दू जबान के ग़ैर-आरियाई (अनार्य भाषा) होने का सबूत अजीब तरह देते हैं। वह उर्दू ज़बान की किसी किताब को उठाकर उसमें से थोड़ी सी इबारत कहीं से इन्तख़ाब कर लेते हैं और उस इबारत के अलफाज़ गिनकर बताते हैं कि देखो, इसमें अरबी के अलफाज़ बमुकाबले फ़ारसी और हिन्दी के ज़्यादा हैं, हालाँ कि यह बात कि—इबारत में अरबी अलफाज़ ज़्यादा आयें या हिन्दी वग़ैरह, कुछ तो मज़मून की नौइयत (विषय-भेद) पर मौक़ूफ़ है और कुछ लिखने वाले के तबई-मैलान (स्वाभाविक रुचि) पर मसलन् 'आरिया समाजियों' का मशहूर अख़बार 'परकाश' जो लाहोर से निकलता है, संस्कृत और भाषा के अलफ़ाज़ बकसरत इस्तेमाल करता है। 'अल्हिलाल' में, जो कलकत्ते से शाया (प्रकाशित) होता था, और जिसके

एडीटर हमारे दोस्त मौलाना अबुलकलाम थे, अरबी अलफ़ाज़ की भर-मार होती थी। इस मतलब के लिये अगर सही इस्तदलाल (युक्ति-युक्त विवेचन) करना हो तो हमारे नज़दीक उस जदवल (तालिका) पर एक नजर डालनी चाहिए जो मरहूम (स्वर्गीय) सैयद अहमद देहलवी ने अपनी मशहूर लुग़ात 'फ़रहग-आसफिया' के आख़िर में दर्ज की है, और जिसमें उर्दू जबान के हर क़िस्म के अलफ़ाज़ ज़बानों की नौइयत के लिहाज़ से गिनाये गये हैं।

जदवल मज़कूर-ए-बाला हस्ब ज़ैल (निम्नलिखित) है:—

तमाम अलफ़ाज़ मुन्दर्जे फरहगे-आसफिया	५४००९

यह मजमूई तादात (कुल जोड़) है, इसकी तफसील यों बताई है:—

हिन्दी जिसके साथ पंजाबी और पूर्वी जबान के बाज़ ख़ास अलफ़ाज़ भी शामिल हैं।	२१६४४
उर्दू यानी वह अलफ़ाज़ जो ग़ैर जबानों से हिन्दी के साथ मिलकर बने हैं।	१७५०५
अरबी	७५८४
फारसी	६०४१
संस्कृत	५५४
अंगरेज़ी	५००
मुख्तलिफ	१८१
	५४,००९

इसके बाद मुख्तलिफ अलफ़ाज़ की फहरिस्त जुदागाना दी गई है, जो हस्ब ज़ैल हैं:—

तुर्की		१०५
इबरानी (Hebrew)	११	१८
सुरयानी	७	

यूनानी (Greek)	२९	
पुर्तगाली	१६	
लातीनी (Latin)	४	
फरान्सीसी (French)	३	
पाली	२	५८
बर्मी	२	
मलाबारी	१	
हस्पानवी (Spanish)	१	

मीज़ान कुल १८१

इस जदवल से हस्ब ज़ैल नतायज़ (परिणाम) वाज़ै तौर पर (स्पष्ट रूपमे) निकलते है:—

(१) हिन्दी के अलफाज हमारी ज़बान में तमाम ज़बानों मे ज़्यादा हैं, जो बमुकाबिला कुल मजमूए के निस्फ (आधे) के क़रीब हैं और अरबी के अलफाज़ सेचन्द (तिगुने) हैं। इससे साफ साबित होता कि हमारी ज़बान की असली ज़मीन या बुनियाद हिन्दी है। पस जो हज़रात हमारी ज़बान को खींचतान कर अरबी की तरफ ले जाना चाहते हैं, वह एक ऐसी ग़लती का इरतकाब करते हैं (ऐसी भूल करते हैं) जिससे इस ज़बान की फितरत (प्रकृति) बिगड़ जायगी।

(२) हिन्दी अलफाज़ के बाद दूसरा दर्जा उन अलफाज़ का है जो ग़ैर ज़बानों से हिन्दी के साथ मिल कर बने हैं। यह अलफाज़ मजमूई अलफाज़ के मुक़ाबिले मे क़रीब एक तिहाई के हैं। इससे बय्यन तौर पर, साबित होता है (स्पष्ट रूपसे सिद्ध है) कि ज़बान में तौसीअ (वृद्धि) और तरक्क़ी (उन्नति) का जो मैलान (प्रवृत्ति—झुकाव) है, उसका मशा यह है कि हिन्दी के साथ ग़ैर ज़बानों के

अलफाज़ मिलाये जाये और इस तरीक़े से नये अलफ़ाज़ बनाये जायँ इस बिना (आधार) पर जो लोग इस ज़बान की तरक्की के ख़्वाहाँ (अभिलाषी) हैं, वह उसकी कुदरती रफ्तार (स्वाभाविक गति) को समझ कर हिन्दी के साथ गैर ज़बानों के अलफ़ाज़ मिलाकर जदीद (नवीन) अलफाज़ बनाये।

(३) चुकि दूसरी क़िस्म के अलफाज़ हिन्दी और ग़ैर ज़बानों के मिलाप से बनाये गये हैं, इस लिए साफ ज़ाहिर है कि उनका शुमार हिन्दी अलफाज़ मे हैं।* अब अगर यह अलफाज़ और पहली क़िस्म के

---

* 'फ़रहगे-आसफ़िया' मे जिन शब्दों को हिन्दी से पृथक् ख़ालिस उर्दू शब्दों की तालिका मे गिनाया गया है, जिनकी संख्या १७५०५ है, और जिनकी तारीफ़ में वह लिखा गया है कि वे ग़ैर ज़बानों से हिन्दी के साथ मिल कर उर्दू में दाख़िल हुए हैं, वे किस प्रकार के हैं—उनका स्वरूप क्या है—उसके दो चार नमूने यह हैः—

'तुम्हारे मुँह में घी शक्कर।'

'तुम्हारा माल सो हमारा माल और हमारा माल हैं हैं हे।'

'तुम्हारा सर।'

'तन को लगना।'

'फ़रहगे-आसफ़िया' मे इन तथा ऐसे ही अन्य शब्दों को उर्दू मे गिनाया है। इनमे ऊपर की दो मसल हैं और नीचे के दो मुहाविरे। इन्हें जैसे उर्दू का कह सकते हैं वैसे ही हिन्दी का भी। इनमें कोई ऐसी बात नहीं है जिससे इन्हें ख़ालिस उर्दू का ही कहा जासके, हिन्दी का नहीं। इसलिये इन शब्दों को भी हिन्दी में ही शामिल कर दिया जाय, तो फ़रहग के शुद्ध हिन्दी शब्दों की ही संख्या ३६१४६ हो जाती है।

'फ़रहंग आसफ़िया' के कई बरस के बाद काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'हिन्दी शब्दसागर' नामक हिन्दी का जो सब से बड़ा कोष

अलफ़ाज़ और फ़ारसी संस्कृत और अंगरेज़ी के अलफ़ाज़ [कि यह तीनों ज़बानें भी आरियाई (आर्य) हैं] नीज़ (और) अट्ठावन अलफ़ाज़ मुख्तलिफ़ अलफ़ाज़ में से [कि यह भी आरियाई ज़बानों (आर्य भाषाओं) के हैं] सब जमा किये जायँ, तो उनकी तादाद ४६३०२ (छयालीस हज़ार तीन सौ दो) होती है। इस तादाद का मुक़ाबिला अरबी अलफ़ाज़ की तादाद से इबरानी और सुरयानी के अठारह अलफ़ाज़ मिलाकर करो [यह दोनों ज़बानें भी अरबी की तरह सामी (Semetic) ज़बानें हैं] अब सामी अलफ़ाज़ की मजमूई तादाद (कुल संख्या) ७६०२ होती है, जो आरियाई अलफ़ाज़ के मुक़ाबिले में छठे हिस्से से भी कम हैं। गोया उर्दू ज़बान एक ऐसा मुरक्कब (सम्मिश्रण) है, जिसमें 'आरियाई' और 'सामी' दोनों अन्सर (तत्व) शामिल हैं। मगर इन दोनों अन्सरों की बाहमी निस्बत (अनुपात) ६ और १ की है। इस ग़ालिब अन्सर की बिना पर (संख्याधिक्य के

प्रकाशित हुआ है, उसमें कुल शब्दों की संख्या ९३११५ है। इनमें फ़रहंग आसफ़िया के हिन्दी उर्दू के प्रायः सभी शब्द आ गये हैं, यह मान कर फ़रहंग के ५४००९ शब्दों को हिन्दी शब्दसागर की शब्दसंख्या में से घटा दिया जाय, तो हिन्दी शब्दों की संख्या शब्दसागर के अनुसार, ३९१०६ अधिक हो जाती है। फ़रहंग आसफ़िया की तरह हिन्दी शब्दसागर में शब्दों का वर्गीकरण करके भिन्नतासूचक तालिका नहीं दी गई है। हिन्दी शब्दसागर के सम्पादकों ने उन सब शब्दों को, जो किसी भी भाषा से हिन्दी में आ गये हैं, हिन्दी ही मान कर (जैसा कि "हिन्दी शब्दसागर" नाम से प्रकट है) शब्दों की संख्या ९३११५ दी है— यद्यपि प्रत्येक शब्द के सामने, जिस भाषा का वह शब्द है, उसका संकेताक्षर दे दिया है, पर हिन्दी में व्यवहृत होने के कारण वह सब हिन्दी ही के शब्द समझने चाहिये।

आधार पर) भी फैसला हो जाता है कि हमारी ज़बान दर हक़ीक़त एक आरियाई ज़बान है ।"*

उर्दू मे इल्मी इस्तलाहात (वैज्ञानिक परिभाषाएँ) अब तक अरबी से ही ली जाती रही हैं और ली जाती हैं, जिनका विशुद्ध रूप अरबी होता है। अरबी की इन भारी भारी परिभाषाओं ने भी उर्दू को हिन्दी से जुदा करने मे काफी हिस्सा लिया है। जो परिभाषाएँ सस्कृत और हिन्दी से आसानी से ली जा सकती हैं, उनकी जगह भी अरबी और तुर्की परिभाषाएँ ढूँढ ढूँढ कर उर्दू में दाख़िल करना उर्दू लेखक अनिवार्य सा समझते हैं। उर्दू लेखकों की इस प्रवृत्ति को मौलाना अब्दुलहक़ साहब ने प्रकारान्तर से उचित बताया है। वह कहते हैं:—

"....... अलबत्ता इस्तलाहात अरबी से ली गई है, क्योंकि इससे गुरेज़ नहीं। उर्दू ज़बान में तक़रीबन् (लगभग) कुल इल्मी इस्तलाहात अरबी ही से लेनी पड़ती हैं, जैसे अँग्रेज़ी ज़बान में लातीनी और यूनानी से।"†

'वज़ै इस्तलाहात' के विद्वान् लेखक ने अपनी पाण्डित्यपूर्ण पुस्तक में परिभाषा-निर्माण के सिद्धान्त पर बहुत विस्तृत बहस की है। जो लोग केवल अरबी से ही उर्दू में परिभाषा लेने के पक्षपाती हैं, उनके भ्रान्त मत का निराकरण इस प्रकार किया है। सलीम साहेब लिखते हैं—

"......... मगर जो हज़रात वज़ै इस्तलाहात (परिभाषा निर्माण) में अरबियत के हामी हैं, वह तो फारसी ज़बान से भी इस्तलाहे बनाने के रवादार नहीं हैं, हिन्दी का तो क्या ज़िक्र है। फिर एक गिरोह (सम्प्रदाय) है, जो इस्तलाहात मे फ़ारसी की आमेज़िश

---

* 'वज़ै इस्तलाहात' पृष्ठ १२९-२८।

† 'क़वायद उर्दू' का मुक़द्दमा (भूमिका), पृष्ठ १६।

(मिश्रण) को तो जायज़ रखता है, लेकिन हिन्दी मेल से नफ़रत का इज़हार करता है ग़रज़ की यह दोनों गिरोह इल्मी इस्तलाहात में हिन्दी की मदाख़लत (हस्तक्षेप) को पसन्द नहीं करते। उनके नज़दीक वह इस्तलाहें, जो हिन्दी अलफ़ाज से बनाई जायँ और जिनमे हिन्दी के मख़सूस हरूफ़ ट, ड, ड़ और मख़लूतुलहा हरूफ भ, फ, थ, ठ, घ, ढ, ढ, ह्र, (ڑھ), ख, घ, ल्ह (لھ), म्ह (مھ), न्ह (نھ), शामिल हों, महज़ बाज़ारी और मुब्तजल (अशिष्ट) अलफ़ाज़ होंगे।

"हमारे नज़दीक यह ख़याल सख़्त ग़लती पर मबनी (आधारित) है। हिन्दी, हमारी महबूब ज़बान (प्यारी भाषा) उर्दू के लिये, जिसको हम दिन-रात घरों मे, बाज़ारों में, महफ़िलों और मजलिसों मे, मदरसों और कारख़ानों मे, और हर मुक़ाम में और हर हालत में बोलते हैं, और इसी को हमेशा लिखते और पढते हैं, बमंज़िले-ज़मीन के है (भूमि के समान है)। इसी ज़मीन पर फ़ारसी और अरबी के पौदे लगाये गये हैं। इसी तख़्ते पर ग़ैर ज़बानों ने आकर गुलकारी की है। अगर यह ज़मीन (यानी हिन्दी) निकाल दी जाय तो फिर उर्दू ज़बान का नामोनिशान भी बाक़ी नहीं रहेगा। हिन्दी को हम अपनी ज़बान के लिये उम्मुल्लिसान اُم اللسان (भाषा की जननी) और हयूलाये अव्वल ہیولاے اول (मूलतत्त्व) कह सकते हैं। इसके बग़ैर हमारी ज़बान की कोई हस्ती नहीं है। इसकी मदद के बग़ैर हम एक जुमला (वाक्य) भी नहीं बोल सकते। जो लोग हिन्दी से मुहब्बत नहीं रखते वह उर्दू ज़बान के हामी नहीं हैं; फ़ारसी, अरबी या किसी दूसरी ज़बान के हामी हों तो हों। क्या वह हिन्दी अस्मा ओ अफ़आल (संज्ञा और क्रियापद), जिनको हम रात-दिन चलते-फिरते, उठते-बैठते, ख़ाते-पीते और सोते-जागते इस्तेमाल करते हैं, मुब्तज़ल और बाज़ारी हो सकते हैं? क्या हमारे उलमा और ख़वास-ओ-अशराफ़ (विद्वान्, विशिष्ट और कुलीन सज्जन) इन अस्मा-ओ-अफ़आल को बेतकल्लुफ़

अपनी ज़बानों पर नहीं लाते ? फिर यह क्या है कि जो अलफ़ाज़ अदना-ओ-आला, आमोख़ास, जाहिलो-आलिम सबकी ज़बानों पर हैं, वह हर क़िस्म की गुफ्तगू और खतो-किताबत के वक्त तो मुब्तज़ल और बाज़ारी नहीं होते, मगर इल्मी इस्तलाहात बनाते वक्त उनको मुब्तज़ल और बाज़ारी कहा जाता है ! क्या उर्दू ज़बान मे सब ज़बानों से ज़्यादा क़सीरुत्तादाद (बहुसख्यक) हिन्दी के अलफाज नहीं हैं ? क्या हिन्दी के खास हरूफ़ ट, ड, ड़ और मख़लूतुलहा हरूफ़ (ख, ढ, भ आदि) हम बेतक़ल्लुफ़ अदा नहीं करते ? क्या हम ऐसे अलफ़ाज, जिसमे यह हरूफ हों, अपनी ज़बान से छीलकर दूर कर सकते हैं ? क्या इन हरूफ़ के बोलने से हम हमेशा के लिये तोबा कर सकते हैं ? अगर नहीं, तो क्या फिर हर मौक़े पर इन अलफ़ाज़ और इन हरूफ को इस्तेमाल करना, और हर फसीह तक़रीर और तहरीर में इनको दख़ल देना और एक ख़ास मौक़े पर, यानी वज़्ए इस्तलाहात के वक्त, उन अलफ़ाज़ व हरूफ को उनके शानदार दर्जे से गिरा देना और मुब्तज़ल और बाज़ारी की फब्ती उन पर चस्पाँ करना सरासर मुहमिल (असम्बद्ध) और बेमानी नहीं है ?

"आख़िर हिन्दी अलफ़ाज़ को सख़ीफ़ और मुब्तजल समझने की वजह क्या है ? इसकी वजह साफ़ ज़ाहिर है। जो क़ौम अपने दर्जे से गिर जाती है, वह हुर्रियत (स्वतन्त्रता) का ताज सर से उतार कर गुलामी का तौक़ पहन लेती है, वह अपनी हर चीज़ को पस्तोज़लील समझने लगती है। अपना मज़हब, दूसरों के मज़हबों के मुक़ाबिले में, उन्हें अदना और कमज़ोर नज़र आता है। ग़ैरों के इख़लाक़ और आदाबोरसूम (चरित्र और आचार-व्यवहार)—अपने इख़लाक़ और आदाबोरसूम से अच्छे दिखाई देते हैं। इसी तरह अपनी ज़बान भी ग़ैरों की ज़बानों की निस्बत, नाशाइस्ता (अशिष्ट) और कम माया (दरिद्र) मालूम होती है। ग़ैर ज़बानों के अलफ़ाज़ उनकी नज़र में

अतिरिक्त इससे एक लाभ यह भी होगा कि हिन्दी और उर्दू का बढ़ता हुआ भेद मिट जायगा। केवल इतना ही नहीं बल्कि भारत की अन्य समृद्ध प्रान्तीय भाषाओं के साथ भी उर्दू की घनिष्टता स्थापित्त हो जायगी, क्योंकि बॅगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं मे भी वैज्ञानिक परिभाषाएँ संस्कृत से ही ग्रहण की गई हैं और की जा रही हैं, जिनका प्रचार वहाँ शिक्षित-समुदाय और सर्वसाधारण में अच्छी तरह हो गया है। उर्दू मे परिभाषाएँ अरबी से ही ली जायँ, यह साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी श्रेयस्कर नहीं है। जिस भाषा और जिस रीति से हिन्दी में परिभाषाओं का निर्माण हुआ है, वही रीति उर्दू मे भी ग्राह्य होनी चाहिये। जब उर्दू और हिन्दी एक ही है, तो यह परिभाषा-भेद की एक नई भीत इन दोनों के बीच मे खड़ी करना किसी प्रकार भी वांछनीय नहीं कहा जा सकता।

पिङ्गल-भेद

उर्दू को हिन्दी से जुदा करने में पिङ्गल-भेद ने भी हाथ बटाया है। उर्दू में अरूज़ या पिङ्गल फ़ारसी से आया और फ़ारसी मे अरबी से। उर्दू और हिन्दी मे भेद क्यों पड़ गया, इस पर मौ० अब्दुलहक़ साहब ने एक जगह अच्छा प्रकाश डाला है। मौलाना ने लिखा है—

"... मुहम्मद कुली 'कुतुबशाह' की हुकूमत गोलकुण्डा में थी, जहाँ कि सरकार और दरबारी ज़बान फ़ारसी थी और रिआया की ज़बान तैलङ्गी। यही हाल आदिलशाहियो का बीजापुर में था कि मुल्क के आसपास की ज़बान 'कनड़ी' (कनाड़ी) थी। यह दोनों ज़बाने 'द्रावड़ी' (द्रविड़) हैं और इन्हें 'आरियाई' (आर्य) ज़बानों से कोई ताल्लुक़ नहीं। इसलिये ज़ाहिर है कि इस मुल्क मे जब उर्दू ने सूरत अख़्तियार की तो इसके ख़तोख़ाल (चेहरा मुहरा आकृति) क्या होंगे। 'तिलङ्गी' (तैलङ्गी) और 'कनड़ी' दोनो अजनबी और ग़ैर-मानूस, इनसे

किसी क़िस्म का मेल हो ही नहीं सकता। लामहाला (अन्ततोगत्वा) फ़ारसी का रंग इस पर (उर्दू पर) चढ़ गया। अव्वल तो फ़ारसी 'आरियाई,' दूसरे सदहा साल की यकजाई, दोनों ऐसी घुलमिल गईं, जैसे शीरोशकर (दूध और खांड़)। आम असनाफ़े-सख़ुन (कविता के प्रकार) मसलन् मसनवी, क़सीदा, रुबाई, ग़ज़ल उर्दू में भी बिला तकल्लुफ़ आ गये। अलफ़ाज़, तशबीहात (उपमायें), इस्तआरात (रूपक) बने-बनाये तैयार मिल गये। अलफ़ाज़ के साथ ख़यालात भी दाख़िल हो गये और क़सीदे, मसनवी, रुबाई और ग़ज़ल में वही शान आ गई जो फ़ारसी में पाई जाती है, लेकिन सबसे बड़ा इनक़लाब, जिसने उर्दू व हिन्दी में इन्तियाज़ पैदा कर दिया, वह यह था कि अरूज़ (पिङ्गल) में भी फ़ारसी ही की तक़लीद (अनुकरण) की गई है, और बग़ैर किसी तग़य्युरो-व-तवद्दुल (परिवर्तन) के उसे उर्दू में ले लिया। फ़ारसी ने इसे अरबी से लिया था और उर्दू को फ़ारसी से मिला। अगर उर्दू (रेख़्ता) को अदबी-नशोनुमा (साहित्यिक-विकास) दकन (दक्षिण) में हासिल न हुई होती, तो बहुत मुमकिन था कि बजाय फारसी अरूज़ के हिन्दी अरूज़ होता, क्योंकि दोआबा-गङ्गो-जमन (अन्तर्वेद) में आसपास हर तरफ़ हिन्दी थी और मुल्क की आम ज़बान थी। बख़िलाफ़ इसके दकन में सिवाय फारसी के कोई इसका (उर्दू का) आश्ना (प्रेमी) न था। और यही वजह हुई कि फारसी इस पर छा गई। वरना यह जो थोड़ा सा इम्तियाज़ (भेद) उर्दू हिन्दी में पाया जाता है वह भी न रहता, और ग़ालिबन् (सम्भवतः) यह उर्दू के हक़ में बहुत बेहतर होता।"

❀ ❀ ❀ ❀

"अरूज़ का क़ौमी ज़बान और ख़यालात से ख़ास लगाव होता है। उर्दू ने इब्तिदा से, यानी जबसे इसे अदबी हैसियत मिली है, ग़ैर

ज़बान का अरूज़ अख्तियार किया। अगर बजाय फ़ारसी अरूज़ के हिन्दी अरूज़ होता, तो उर्दू हिन्दी नज़्म और ज़बान में वह मग़ायरत (परायापन), जो इस वक्त नज़र आती है, न रहती या बहुत कुछ कम हो जाती।"*

अपने इस विचार को मौ० अब्दुलहक़ साहब ने एक दूसरे प्रसङ्ग में फिर इन शब्दों में दोहराया है:—

"मैं एक दूसरे मज़मून के ज़मन (प्रसङ्ग) में अपना यह ख़याल ज़ाहिर कर चुका हूँ कि उर्दू शाइरी पर फ़ारसी का ज़्यादातर असर इसलिये भी हुआ कि इसने शुरू से फ़ारसी अरूज़ अख्तियार किया, और हिन्दी अरूज़ अख्तियार न करने से वह बहुत-सी खूबियों से महरूम (वञ्चित) रह गई।"†

प्रारम्भिक काल के किसी-किसी उर्दू कवि ने हिन्दी ढँग के छन्दों में कुछ कविता की थी, इसका पता चलता है, पर यह ढँग उर्दू में चल न सका। 'पंजाब मे उर्दू' के लेखक ने उर्दू के पुराने कवियों के बारे में लिखते हुए एक जगह कहा है:—

"... ...यह और बहस है कि वह लोग (उर्दू के पुराने शाइर) दिल्ली के रोज़मर्रा मे नहीं लिखते थे या जज़बात में फ़ारसी के मुतब्बा (अनुकरण कर्त्ता) नहीं थे और हिन्दी तर्ज़ मे लिखते थे, उनके औज़ान (छन्द) हिन्दी थे।" ('पंजाब मे उर्दू,' पृष्ठ १८३)।

मीर तक़ी साहब 'मीर' ने 'तज़करे निकातुश्शोरा' मे आसिफ़ अली

---

* "कुल्लियात सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह" पर मौ० अब्दुल-हक़ साहब का नोट; रिसाला 'उर्दू' (त्रैमासिक), मास जनवरी सन् १९२२ ई०।

† मुहम्मद अज़मतुल्लाख़ाँ साहब, बी० ए०, की 'बरखा रुत का पहला महीना' शीर्षक कविता पर नोट; 'उर्दू,' जनवरी सन् १९२३ ई०।

खाँ 'आजिज़' (जो मीर साहब के सम-सामयिक थे) के बारे मे लिखा है—" ...अक्सर रेख़्ता दर-बहरे-कवित मी गोयद"—अर्थात् 'आजिज़' कवित्त के छन्द में अक्सर उर्दू पद्य कहते थे। इसके आगे 'आजिज़' का यह उसी ढंग का एक कवित्त (?) उद्धृत किया है:—

**"मेंह के बरसने की बाव चली है अब आँखों से जान बिन आँसू चलेंगे ;
दर्द के नेसाँ के गौहरे-ग़लताँ तो मिट्टी में कंकरों से आह रुलेंगे।
तख़्ते जुनूँ मेरा वहशी दीवानों ने सर पर उठाये हैं शोरों से 'आजिज़' ;
अब मियाँ मजनूँ बबूलों की मोरछलों की ख़राबी से आपही झलेंगे।"**

उर्दू कवियो और लेखकों की यह हिन्दी पिङ्गल की उपेक्षा बहुत खटकने वाली और भाषा तथा भारतीयता का अपमान है। उर्दू में हिन्दी छन्दों का व्यवहार तो दूर रहा, उर्दू के बड़े बड़े दिग्गज लेखकों को हिन्दी छन्दों के प्रायः नाम तक याद नहीं। उन्हें 'कबित,' 'दोहा' या 'दोहरा' सिर्फ यह दो ही नाम याद हैं। उर्दू के सुप्रसिद्ध लेखक हज़रत 'नियाज़' फतहपुरी ने "जज़बाते-भाषा" लिखकर भाषा (हिन्दी) की शाइरी की दिल खोलकर दाद तो दी है, पर उन्होंने दोहा, बरवा, सोरठा और चौपाई इन सब का नाम अपनी किताब मे 'दोहा' या "दोहरा ही लिखा है और हिन्दी छन्दों को उर्दू में उद्धृत करते हुए प्रायः छन्दोभङ्ग कर दिया है।

बोलचाल की भाषा या खड़ी बोली की हिन्दी कविता में हिन्दी कवियों ने पिङ्गल के व्यवहार में उदारता से काम लिया है। उन्होंने प्रचलित उर्दू बहरों मे भी कविता की है। पहले कवियों में घनानन्द* (बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुन्शी) ने अपनी 'विरहलीला' में उर्दू बहर इस्तेमाल की है। बाद को ललितकिशोरी (साह कुन्दन-

---

* जिनका जन्म संवत् १७४६ वि० के लगभग हुआ, और जो संवत् १७९६ वि० में नादिरशाही में मारे गये।

लालजी, जिनका मृत्यु-सम्वत् १९३० वि० है), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बाबू बालमुकुन्दगुप्त, प० नाथूरामशङ्कर शर्मा 'शङ्कर', प० नारायणप्रसाद 'बेताब', प० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', लाला भगवानदीन 'दीन', पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' इत्यादि प्रमुख हिन्दी कवियों ने उर्दू बहर में भी अच्छी कविता की है, मगर मुसलमान उर्दू कवियों ने हिन्दी पिङ्गल के मैदान में क़दम नहीं रक्खा—वर्तमान काल के किसी भी मुसलमान कवि ने हिन्दी पिङ्गल को नहीं अपनाया, यद्यपि अरबी अरूज़ की अपेक्षा हिन्दी का पिङ्गल सरल, सुबोध और हमारी भाषा के सर्वथा अनुकूल है। दोनों भाषाओं के बीच पिङ्गल भेद की यह भीत 'दीवारे-क़हक़हा' बनी खड़ी है, जो उर्दू हिन्दी को मिलने नहीं देती।

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपनी 'बोलचाल' की भूमिका में हिन्दी पिङ्गल और उर्दू अरूज़ पर विस्तार से बहस की है। दोनों के गुण दोष का, सरलता और कठिनता का, उपादेयता और अनुपादेयता का, तुलनात्मक ढंग से अच्छा वर्णन किया है। उपाध्याय जी ने उस बहस के शेष वक्तव्य में जो निष्कर्ष निकाला है, वह यह है:—

"विचारणीय विषय यह था कि उर्दू बहरों के नियम यदि पिङ्गल के छन्दोनियम से सरल, सुबोध और उपयोगी होवें तो वे क्यों न ग्रहण किये जावें। इस विषय की अब तक जो मीमासा की गई है उससे यह स्पष्ट हो गया कि (पिङ्गल के) छन्दोनियम उर्दू बहरों के नियम से कहीं सरल और सुबोध अथच उपयोगी हैं। जितनी ही उर्दू बहर के नियमों मे जटिलता है उतनी ही छन्दोनियमों में सुबोधता और सरलता है। यदि बहरों के नियम बीहड़ों के पेचीले मार्ग हैं तो छन्दोनियम राजपथ (शाहीसड़क) हैं। मैंने उर्दू बहर के नियमों की जाँच पिङ्गल नियमों के अनुसार की है और दोनों का मिलान भी किया है, उनका गुण दोष भी दिखलाया है। अतएव तर्क का स्थान शेष नहीं है।

तथापि यह कहा जा सकता है कि उर्दू बहरों को उर्दू नियमों की कसौटी पर कसना चाहिये और उसी की दृष्टि से उसके गुणदोषों का विवेचन होना चाहिये। पद्य परीक्षाकार* पृष्ठ १८ मे इसी विषय पर यह लिखते हैं:—

"तक़तीअ करते समय आवश्यकता हो तो गुरु वर्ण को लघु मान लेते हैं। हिन्दी मे भी यह छूट जारी है, परन्तु अन्तर यह है कि हिन्दी वाले किसी किसी छन्द में इस छूट मे लाभ उठाते हैं, वर्ण वृत्तों मे कदापि नहीं और उर्दू वाले हर बहर में। भी का भि, किसी का किसि, से का स, थे का थ, मेरी को मिरी, मेरि, मिरि, इसी तरह तेरी को भी। मेरा को मेर, मिरा मिर, इसी तरह तेरा को भी। यह वे को व, वह वो को व मानने में हानि नहीं। यह घटाना बढाना अन्धाधुन्ध नहीं, नियत नियमानुसार है। सातों विभक्तियो के प्रत्यय गुरु से लघु होते रहते हैं।"

जिन नियमों के आधार से उर्दू-शब्द-ससार मे ऐसा विप्लव उपस्थित होता है, यदि वे नियम हैं तो अनियम किसे कहेंगे? उर्दू भाषा के नियामक भले ही इस प्रकार के परिवर्तन को नियत नियमानुसार समझे परन्तु हिन्दी भाषा के आचार्यों ने उन्हें दोष माना है। यह मैं स्वीकार करूँगा कि हिन्दी भाषा में भी इस प्रकार के कुछ थोड़े से परिवर्तन होते हैं परन्तु वे परिमित हैं, उर्दू के समान अपरिमित नहीं हैं। अँगरेज़ी भाषा का नाइट (night) शब्द अँगरेज़ी नियमानुसार शुद्ध है किन्तु भाषाविज्ञानविद् अवश्य उसे देखकर कहेगा कि उक्त शब्द में जी (g) एच (h) की आवश्यकता नहीं क्योंकि उनका उच्चारण नहीं होता। लिपि की महत्ता यही है कि जो लिखा जावे वह पढा जावे। सुवाच्य सुबोध और वैज्ञानिक लिपि वही है जिसके अक्षरों का विन्यास

* 'पद्य परीक्षा,' पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' ने लिखी है। पिङ्गल और उर्दू बहरों की बहस इसमें भी अच्छी है।

उच्चारण-अनुकूल हो। अन्यथा वह लिपि भ्रामक और दुर्बोध होगी और उच्चारण की जटिलता को बढ़ा देगी। यही दशा अँगरेज़ी में लिखे गये 'नाइट' शब्द की है तथापि वह शुद्ध है और नियमित है। उर्दू में लिखे गये कोर (کور) शब्द को देखिये, इसको 'कूर', 'कोर,' 'कवर' और 'कौर' पढ़ा जा सकता है। लिखा गया एक अर्थ में एक उच्चारण के लिये, किन्तु वह है 'अनेक रूप रूपाय' तथापि वह शुद्ध और नियमित है। ऐसी ही अवस्था उर्दू बहर के नियमों की है, वे उर्दू 'तक़तीअ' और प्रणाली से भले ही शुद्ध हों, किन्तु हिन्दी नियमो की कसौटी पर कसने के बाद उनका वास्तव रूप प्रकट हो जाता है। दो समानोद्देश वाली वस्तुओं का मिलान करने से ही उनका गुणदोष, उनकी महत्ता और विशेषता विदित होती है। जिस प्रकार हिन्दी भाषा के वर्ण सहज, सुबोध और सुवाच्य हैं, जैसे उसका शब्द-विन्यास सुनियमित और अजटिल है, वैसे ही उसके छन्दोनियम भी हैं, इसके प्रतिकूल उर्दू की दशा है। जैसे उसके हुरूफ़ दुर्बोध और जटिल हैं, वैसे ही उसके शब्द-विन्यास और उच्चारण कष्टसाध्य हैं, वैसे ही उसके बहरों के नियम दुस्तर, जटिल और नियमित होकर भी अनियमित हैं। अतएव हिन्दी-संसार के लिये उनकी उपयोगिता अनेक दशाओं में अनुपयोगिता का ही रूपान्तर है। इन बातों पर दृष्टि रखकर उर्दू बहरों के व्यवहार के विषय में मेरी यह सम्मति है—

(१) आवश्यकता होने पर उर्दू बहरों की ध्वनि ग्रहण की जावे, किन्तु उसका उपयोग हिन्दी के उदाहृत लक्षण पद्यों के समान किया जावे।

(२) ध्वनि आधार से गृहीत प्रत्येक उर्दू बहर हिन्दी छन्दों के अन्तर्गत है, अतएव उसका शासन पिङ्गल शास्त्र के अनुसार होना चाहिये, हिन्दी छन्दोनियम ही उसके लिये उपयोगी और सुविधामूलक हो सकता है।

(३) गृहीत उर्दू बहरों की शब्द और वाक्यरचना हिन्दी छन्दों की प्रणाली से होनी चाहिये, उसी विशेषता के साथ कि एक मात्रा की भी कहीं न्यूनाधिकता न हो।

(४) यथाशक्ति शब्द-प्रयोग इस प्रकार किया जावे कि गुरु को लघु बनाने की आवश्यकता न पड़े। यदि उपयोगितावश ऐसी नौबत आवे तो वह अत्यन्त परिमित और नियमित हो।

(५) शब्द तोड़े मरोड़े न जावें, च्युतदोष से सर्वथा बचा जावे। उर्दू की जिन त्रुटियों का ऊपर उल्लेख हुआ है, उनसे किनारा किया जावे, और निर्दोष छन्दोगति का पूरा ध्यान रखा जावे।*

लिपि-भेद

हिन्दी उर्दू को दो भिन्न भागो मे विभक्त करने का प्रधान कारण लिपि का भेद है। हिन्दी उर्दू के विरोध की बुनियाद लिपि-भेद पर ही क़ायम हुई है; विरोध का महल इसी पर खड़ा है—दोनों भाषाओं मे यही भेद एकता नहीं होने देता। यह लिपि-भेद यदि दूर हो जाय, तो हिन्दी-उर्दू विवाद के बखेड़े कभी खड़े न हों, सब विरोध शान्त हो जाय।

लिपि किसी भाषा को लिखने का साधन है। लिपि का साधन वही स्वीकार करना चाहिये जो सब से सुगम और असंदिग्ध हो, भाषा की प्रकृति के अनुकूल हो, उसके शब्दों को यथार्थ रूप में प्रकट करने की क्षमता रखता हो। उसमें जो कुछ लिखा जाय, उसे एक बच्चा भी आसानी से पढ़ सकता हो। जिसके सीखने में सब से कम समय और शक्ति लगे। ऐसी लिपि ही सर्वसाधारण में शिक्षा के प्रचार और प्रसार का साधन बन सकती है। नागरीलिपि में यह सब गुण पाये जाते है।

---

* 'बोलचाल' की भूमिका पृ० १०८-११।

उसके अक्षरों की बनावट बहुत ही वैज्ञानिक और उच्चारण सर्वथा निर्दोप है, इस बात को बड़े बड़े देशी और विदेशी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। लिपि की एकता का प्रश्न भाषा की एकता का ही नहीं जाति की एकता का भी प्रश्न है। भारत की मुख्य लिपि, अपने विशेष गुणों के कारण, देवनागरी ही है। बँगला, गुजराती, गुरुमुखी, मराठी आदि लिपियाँ भी उसी का कुछ हेरफेर से रूपान्तर मात्र हैं।

उर्दू जिस लिपि में लिखी जाती है, उसकी गति-विधि भारतीय लिपि से सर्वथा भिन्न है। भारत मे फारसी लिपि का प्रचार मुसलमान शासकों के समय मे हुआ। उनकी दरबारी भाषा फ़ारसी थी, तमाम दफ़्तर इसी मे रक्खे जाते थे। इस सबब से दफ़्तर और दरबार के सम्पर्क मे आने वाले हिन्दू दरबारियों और कर्मचारियों को भी यही लिपि सीखनी पड़ी—वह भी इसी में लिखने-पढ़ने लगे। इस समय अँगरेज़ी भाषा और रोमन लिपि के प्रचार का जो कारण है, वही उस समय फ़ारसी भाषा और लिपि के भी प्रचार का कारण था। बाद को जब दफ्तर उर्दू में हुए, तो उर्दू भी उसी फारसी लिपि मे लिखी जाने लगी। भारत मे फ़ारसी लिपि के प्रचार का संक्षेप में यही इतिहास है। समय विशेष में किसी सुविधा या मसलहत के ख़याल से जो बात अख़्तियार कर ली जाती है, ज़रूरत न रहने पर भी कभी कभी वह बात या प्रथा मज़बूत और बद्धमूल हो जाती है, उससे एक प्रकार की ममता और कुछ मोह-सा हो जाता है; फिर वह छुटाए नहीं छूटती। उसका परित्याग धर्म के परित्याग के समान असह्य प्रतीत होने लगता है। ठीक यही बात फ़ारसी लिपि के सम्बन्ध में है। फ़ारसी लिपि का भारत से या भारत-निवासी मुसलमान भाइयों से, धार्मिकता या जातीयता की दृष्टि से, कोई अटूट सम्बन्ध नहीं है, फिर भी इसने एक धार्मिक रूप धारण कर लिया है। यह लिपि-भेद दोनों भाषाओं और जातियों मे एकता

नहीं होने देता। यदि यह लिपि-भेद का बखेड़ा आड़े न आता, तो भाषा में और उसके कारण हिन्दू मुसलमान जातियो में इतना भयङ्कर और अनिष्ट भेदभाव कभी उत्पन्न न होता; हिन्दी उर्दू एक थीं, एक ही रहतीं।

लिपि की एकता का जब कभी प्रश्न उठता है, इसके लिये आन्दोलन किया जाता है, तो मुसलमान भाई, यही नहीं कि उसमे सहयोग नहीं देते बल्कि उसका विरोध भी करते हैं। यह बात बड़े-बड़े विचारशील विद्वानों ने मान ली है कि भारत में जब तक एक लिपि का प्रचार न होगा तब तक न शिक्षा फैलेगी, न एकता होगी। स्वर्गीय जस्टिस शारदाचरण मित्र ने, इसी उद्देश से, "एकलिपि-विस्तार-परिषद" की स्थापना की थी और 'देवनागर' पत्र निकाला था, जिसमें बँगला, गुजराती, मराठी, नेपाली, तैलङ्गी, उड़िया, मलायालम, कनाड़ी, तामिल, सिन्धी, पजाबी, उर्दू और हिन्दी इन सब भाषाओं के लेख नागरी लिपि में ही छपते थे, भाषा उनकी बदस्तूर वही होती थी, सिर्फ़ लिपि देवनागरी रहती थी। पर सार्वजनिक प्रोत्साहन और सहयोग प्राप्त न होने से जस्टिस शारदाचरण का वह स्तुत्य प्रयत्न सफल न हो सका। ज़रूरत है कि फिर इसके लिये एक बार प्रयत्न किया जाय, कम से कम हिन्दी और उर्दू की एकता के लिये और हिन्दुस्तानी बोलने वाली जनता में साहित्य और शिक्षा की अभीष्ट और यथेष्ट उन्नति के लिये इसकी नितान्त आवश्यकता है कि उर्दू हिन्दी दोनों की लिपि एक हो। यह बात मैं किसी पक्षपात अथवा हिन्दी वालों के सुभीते के ख़याल से नहीं कहता, बल्कि इसकी उपयोगिता दूरदर्शी और विचारशील विद्वान् मुसलमानों ने भी स्पष्टरूप से स्वीकार की है। अरबी, फ़ारसी और संस्कृत आदि अनेक भाषाओं के सुप्रसिद्ध विद्वान् 'तमद्दुने-हिन्द' के लेखक शम्सुल्उलमा जनाब मौलवी सय्यद अली साहब बिलग्रामी उर्दू लिपि के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

"... पहलवी और फ़ारसी की नाईं उर्दू भी उन अभागी भाषाओं मे से है जिनके अक्षर दूसरी जाति मे बनाये गये हैं और जिन अक्षरों का भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् भाषा में जो शब्द हैं उनके लिये अक्षर अक्षर नहीं हैं किसी किसी शब्द के लिये तो बहुत से अक्षर हैं और किसी किसी शब्द के लिये अक्षर हैं ही नहीं। जैसे अरबी के 'से' और 'स्वाद' और 'सीन' तीनों से उर्दू में एक ही ध्वनि निकलती है। इन अक्षरो का काम केवल 'सीन' ही से चल सकता था। निस्सन्देह उन अरबी शब्दों का ध्यान करके, जो कि उर्दू में मिल गये हैं, इन अक्षरो का रहना आवश्यक है। परन्तु केवल उर्दू के लिये उनका रहना अनावश्यक और निष्प्रयोजन है। अर्थात् यदि कोई मनुष्य उर्दू भाषा के वाक्यों को बोलता जाय और दूसरा कोई अरबी से अनभिज्ञ मनुष्य उसे लिखता जाय तो जब तक कि उस लेखक को अरबी के इमलों का ज्ञान न हो वह केवल सुनकर शुद्ध नहीं लिख सकता। उर्दू अक्षरों में यह एक बड़ा भारी दोष है। यही हाल 'ज़े', 'ज़ाल', 'ज़्वाद' और 'ज़ो' का और इसी प्रकार के उर्दू के दूसरे अक्षरों का भी है।

"इन आर्य भाषाओं के अक्षरों में बहुत ही उपयुक्त बात यह है कि इनमें स्वर मात्रा से दिखलाये जाते हैं। परन्तु सेमेटिक भाषाओं मे स्वर कुछ चिह्नों से दिखलाये जाते हैं जिन्हें ज़ेर, ज़बर, पेश और तनवीन इत्यादि कहते हैं। अर्थात् आर्य भाषा में तो 'स्वर' शब्द का एक भाग है, परन्तु सेमेटिक भाषाओं में वह केवल एक ऐसा चिह्न है जिसका लिखना अथवा न लिखना लेखक की इच्छा पर निर्भर है, और लेखक इसे प्रायः छोड़ दिया करते हैं।"

"इससे यह बात विदित हो गयी होगी कि सेमेटिक भाषा की अपेक्षा आर्य भाषा क्यों सरल है। आर्य भाषा में एक शब्द केवल एक ही प्रकार से पढ़ा जा सकता है। यदि इस शब्द में कोई शङ्का

उत्पन्न हो सकती है तो केवल इसी कारण कि कोई अक्षर ठीक प्रकार से नहीं लिखा गया। सेमेटिक भाषा मे एक शब्द को तीन चार से भी अधिक प्रकार से पढ़ सकते हैं, जैसे अरबी, शब्द 'कतब' को तीन प्रकार से पढ़ सकते है—'कुतब,' 'कुतुब' अथवा 'कतब'। और इन तीनों में से कहाँ पर क्या पढ़ना चाहिये सो केवल वाक्य-प्रबन्ध से ही ज्ञात हो सकता है। परन्तु यही शब्द यदि सस्कृत, यूनानी या रूमी अक्षरों में लिखा जाय तो शङ्का करने की आवश्यकता ही न पड़ेगी। इन तीनों मे जहाँ जो शब्द लिखना है वहाँ उसे स्पष्ट रीति से लिख सकेंगे और उसका अशुद्ध अथवा दूसरे प्रकार से पढ़ा जाना असम्भव होगा। यही कारण है कि कोई मनुष्य अरबी को बिना उसके कोष और व्याकरण से विज्ञ हुए नहीं पढ़ सकता। परन्तु एक बालक भी अक्षर पहचानने के पश्चात् ही सस्कृत, यूनानी अथवा लेटिन भाषा को बिना अर्थ समझे और बिना कठिनता के भली भाँति पढ़ सकता है।"

"हम दिखला चुके हैं कि इस प्रयोग से प्रत्येक शब्द कई प्रकार से पढ़ा जा सकता है, और जब तक कि वह शब्द पहले ही से न मालूम हो तब तक उसका शुद्ध उच्चारण कदापि नहीं किया जा सकता, अतएव यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक लिखा हुआ शब्द एक कल्पित चित्र है, जिसके उच्चारण का उसकी लिखावट से कोई सम्बन्ध नहीं है, और यदि है भी तो बहुत थोड़ा। इससे यह भली भाँति समझ मे आ सकता है कि इस दूसरी जाति के अक्षर ने उर्दू की पढ़ाई को कितनी कठिन कर रक्खा है, तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारी पाठशाला के बालकों को केवल शुद्धतापूर्वक पढ़ना सीखने में दो वर्ष लग जाते हैं। इसका बहुत बड़ा प्रभाव मुसलमानों की विद्या-सम्बन्धी उन्नति पर पडा है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दूसरी जाति में इतनी अविज्ञता कदापि नहीं है जितनी मुसलमानों मे। और पढ़े-लिखे आदमियों की अधिक संख्या उन्हीं मुसलमानों मे है जिन्होंने

अपने को इस दूसरी जाति के अक्षरों के बन्धन से निर्मुक्त कर लिया है, अर्थात् सिंध, बम्बई और बंगाल के मुसलमानों में, जो अपनी भाषा को सिन्धी, गुजराती और बगाल के आर्य अक्षरों में लिखते-पढ़ते हैं।" ※

"देवनागरी लिपि की प्रशसा केवल हम आर्यों की सन्तान ही नहीं कर रहे, इसके महत्त्व की साक्षी हमको बाहर से भी मिलती हैं। 'एक-लिपि-विस्तार-परिषद्' के एक अँगरेज़ उपप्रधान ने अपनी वक्तृता मे कहा था कि, "देव-नागराक्षरों का सारे भूमण्डल में प्रचार होना चाहिये, क्योंकि इसके सदृश सर्वाङ्गपूर्ण दूसरी कोई लिपि नहीं।" उसी परिषद् के एक मुसलमान उपप्रधान (महाशय जस्टिस शरफुद्दीन जज हाईकोर्ट कलकत्ता) ने अपनी वक्तृता में कहा था कि, भारतवर्ष मे मुसलमानों को 'क़ुरान शरीफ' भी देवनागराक्षरों में ही छपवाना चाहिये।" †

उर्दू लिपि के झंझट और भ्रामकता से तग आकर उर्दू के बहुत से विद्वान् उसके सुधार या उसकी जगह कोई दूसरी लिपि अख़्तियार करने का विचार करने लगे हैं। फ़ारसी लिपि की जगह रोमन लिपि स्वीकार करने का भी प्रस्ताव उठा था। रिसाले 'उर्दू' में इस विषय पर कुछ लेख भी निकले थे। फारसी और उर्दू के लिये रोमन या लेटिन लिपि—(जिसमें अंग्रेज़ी छपती है)—उपयुक्त है या नहीं इस पर विचार करते हुए 'उर्दू' के सुयोग्य विद्वान् सम्पादक ने लिखा है—

"हिन्दुस्तान में बहुत सी ज़बाने मरव्विज (प्रचलित) हैं और

※ प्रोफ़ेसर बदरीनाथ वर्मा, एम०, ए०, काव्यतीर्थ, की 'हिन्दी और उर्दू', पृष्ठ ८, ९।

† चतुर्थ हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति का भाषण, कार्य-विवरण, प्रथम भाग, पृष्ठ १४।

अक्सर के ख़त (लिपि) एक दूसरे से नहीं मिलते। अगर यह सब ज़बानें लातीनी (लेटिन, रोमन) हरूफ अख़्तियार करलें तो इनका सीखना किस क़दर आसान हो जाय, और कुछ भी हो इस हिन्दी-उर्दू बहस का तो पाप कट जायगा।"

"मुझे ('उर्दू' सम्पादक को) अकसर उर्दू की क़दीम किताबों के मुताले (अध्ययन) का इत्तफाक़ होता है। पुराने अलफाज़ के सही पढ़ने और सही तलफ्फुज़ के दरयाफ्त करने मे बड़ी दिक़्कत होती है। अगर लातीनी (लेटिन) या नागरी हरूफ़ में यह तहरीरें होतीं तो इतनी दिक्क़त न होती।" ※

फारसी लिपि की इस अपूर्णता और पेचीदगी को दूर करने के लिये अंजुमन तरक़्की-ए-उर्दू की ओर से एक आन्दोलन उठा है। इस विषय में 'इसलाह रस्मुलख़त' (लिपि-सुधार) के नाम से बहुत से विचारशील विद्वानों की सम्मतियाँ अंजुमन के तिमाही 'उर्दू' मे प्रकाशित हुई हैं। इन सम्मतियों में अनेक विद्वानों ने जो विचार प्रकट किये हैं, उनमें से अधिकाश उर्दू वर्णमाला (हरूफ तहज्जी) में सुधार और संशोधन करने के सम्बन्ध में हैं, जो इस प्रकार के हैं—उर्दू के 'अलिफ बे' में कई हरफ़ों की आवाज़ एक है' जैसे अलिफ़ (ا) और ऐन (ع) की—अलम (علم-الم) में आवाज़ एक ही है। इसी तरह 'ते' (ت) और 'तो' (ط) की; 'से' 'सीन' और 'स्वाद' (ث' س' ص) की और 'हे' (ح ہ) की; 'ज़ाल' 'ज़े' 'ज़्वाद' और 'ज़ो' (ز ص ظ) की एक आवाज़ है। इनमें से उर्दू की ज़रूरत के लिये सिर्फ 'अलिफ' 'ते' 'सीन' 'हे' और 'ज़े' (ا ت س ہ ز) काफ़ी हैं और बाक़ी हरफ 'ऐन' 'तो' 'से' 'स्वाद' 'ज़ाल' ज़्वाद' और 'ज़ो' (ظ ض ذ ص-

---

※ 'उर्दू' मास जुलाई सन् १६२६ ई०।

(ع ط ب) बेज़रूर हैं। यह हर्फ़ सिर्फ़ अरबी लफ़्ज़ों के लिखने मे काम आते हैं।*

"उर्दू में बहुत से अलफ़ाज़ ऐसे भी पाये जाते हैं जिनका अरबी की असल और नसल से कोई ताल्लुक़ नहीं, मगर फिर भी वह अरबी पोशाक पहन कर अरबी बने हुए हैं, जैसे—तोता, रज़ाई, सद, शस्त वग़ैरह (طوطا رضائی صد شست وغیرہ)। तो क्या यह शब्द 'तो' और 'ज़्वाद' से लिखे जाने के कारण अरबी बन सकते हैं? हालाँ कि असूल

---

* उर्दू में तो अरबी अलफ़ाज़ आते हैं, ख़ासकर जिनके साथ 'अल्' का मेल होता है, उनका सही तलफ़्फ़ुज़ (ठीक उच्चारण), 'शम्सी' और 'क़मरी' भेद न जाननेवालों के लिये, बहुत कठिन होता है। अरबी के हरूफ़-तहज्जी (वर्णमाला के अक्षर) अट्ठाइस हैं, जिनमें १३ 'हरूफ़ शम्सी' और १५ 'हरूफ़ क़मरी' कहलाते हैं।

हरूफ़ शम्सी—

ت ث د ذ ر ز س ش ص ض ط ظ ن
=१३

हरूफ़ क़मरी—

ب ج ح خ ع غ ف ق ک ل م و ہ ا ی
=१५

जिस अरबी शब्द का आरम्भ किसी शम्सी हरफ़ से होता है, और उसके पूर्व अगर 'अल्' आता है तो अलिफ़ का उच्चारण होता है लाम का नहीं। इसके बदले में हरफ़ शम्सी को द्वित्व हो जाता है—उसे तशदीद लग जाती है, जैसे उद्दीन الدین

अगर अल् से पहले भी कोई अक्षर या शब्द हो तो अल् का उच्चारण बिलकुल नहीं होती, जैसे करीमुद्दीन (کریم الدین) नसीरुद्दीन (نصیرالدین)

तो यह माना गया है, 'जैसा देश वैसा भेष,' जिसकी मिसाल अतरीफल (اطریفل) और शतरज (شطرنج) मे इस वक्त पाई जाती है, जब कि यहाँ से वह परदेश (अरब), में चले गये थे। मगर यहाँ तो अपने देश मे रह कर भी परदेश का भेष तरक नहीं किया जाता है, और ख़ुददारी को ख़ैरबाद कह दिया गया है—आत्मसम्मान को तिलाञ्जलि दे दी है इसके ख़िलाफ़ ख़ुद अरबी उलअस्ल (मूल अरबी) अलफ़ाज़ मुन्दर्जे ज़ैल (निम्नलिखित) किस तरह इस मसल के मिसदाक़ (उदाहरण) बनकर अपनी हरदिल अज़ीज़ी और सयासत-दानी का सबूत दे रहे हैं, जिसमें एशियाई इत्तिहाद की सूरत भी नुमायाँ है। वह लफ़्ज़ यह हैं :—क़साई (قسائی), सही (سہی), मसाला (مسالہ), सफील (سفیل), ख़ैरसल्ला (خیرسلا) .. । यह भी कोई क़रीना है कि तलफ्फ़ुज़ तो एक आवाज़ में और नुमायश हो उसकी चार चार सूरतों में। तलफ़्फ़ुज़ के मैदान मे यह कोतल घोड़े किस काम आ सकते हैं ? ...... फिर एक ऐन (ع) अब्द (عبد) में और शकल का है, बाद (بعد) में और वज़े का और नज़ा (نزع) में और सूरत का, हाँला कि देवनागरी को इस शुतर गुरबगी (ऊँट बिल्ली के गठजोड़े) की हवा भी नहीं लगी।

इसी तरह जिस अरबी लफ़्ज़ के शुरू का हरफ़ 'क़मरी' होता है औ' उसके पहले 'अल्' आता है तो 'अल्' का तलफ़्फ़ुज़ होता है, जैसे अल् क़मर القمر

हाँ, अगर अल् के पूर्व कोई अक्षर या शब्द हो तो सिर्फ़ हरफ़ लाम का उच्चारण होगा, जैसे अब्दुलग़फ़ूर (عبدالغفور), बिलकुल (بالکل), बिलफ़ेल (بالفعل)

कदाचित् इस अल् के लपेट में आकर ही लफ़्ज़ عيدالاضحیٰ (ईदुल्अज़्हा) सिर्फ़ ईदुज़्ज़ुहा (عیدالضحیٰ) मशहूर है।

"हमआवाज़ हरूफ़ का (जिनका उच्चारण एकसा है) इख़राज बज़ाहिर एक बड़ा मामला मालूम होता है, मगर जब कि इन अशकालो हरूफ़ (अक्षरों की आकृति) पर न इसलाम का दारोमदार है न मुसलमानों की क़ौमियत का इनहिसार (आधार), तो यह चन्दाँ पसोपेस का मामला मालूम नहीं होता। ख़सूसन ऐसी सूरत में कि एक यक़ीनी और नक़द फ़ायदा भी नज़र आता है।

"इन हरूफ़ का सबसे बड़ा फायदा मौजूदा हालत में यह कहा जा सकता है कि हरफ़ लफ़्ज़ अपना शजर-ए-निसबत (वंशावली) साथ रखता है, और फ़ौरन मालूम हो जाता है कि इस लफ़्ज़ का माद्दा क्या है और किस लफ़्ज़ से मश्तक़ हुआ है—किस शब्द से बना है—जिससे हम इस लफ़्ज़ की इमला में गलती नहीं करते। लेकिन जब तमाम हमआवाज़ हरूफ़ ख़ारिज होकर सब की जगह सिर्फ़ एक ही हरफ़ रह जायगा तो ग़लती का इमकान व एहतमाल भी न रह जायगा। लिहाज़ा यह फायदा महज़ 'कोह कन्दन व काह बरा उर्दन' (खोदा पहाड़ निकला चूहा) है। अगर यह कहा जाय कि जिस तरह अब अब्दुल अज़ीम (عبدالعظیم) के माने समझ में न आते हैं, इस तरह अब्दुल अज़ीम (ابدالازیم) के माने समझ में न आ सकेंगे। मगर यह भी कुछ बात नहीं है। रोटी, टुकड़ा, काग़ज़ दवात, सुफ़ेद, सुर्ख़ वग़ैरा सदहा (सैकड़ों) अलफ़ाज़ के मानी समझ मे नहीं आते, उस वक़्त नामों के मानी समझने की क्या ज़रूरत पेश आयगी ? अब भी हज़ारों लफ़्ज़ हैं, जिनकी शक्ल उर्दू लिबास मे नहीं पहचानी जाती और दूसरी ज़बान के लुग़त से पता लगाया जाता है। उस वक़्त भी अरबी लुग़त से ऐसे अलफाज के मानी समझ लिया करेंगे।* यही बात 'उर्दू' के

---

* रिसाला 'उर्दू' मास अक्टूबर सन् १९२२ ई० में सय्यद अलताफ़ हुसेन साहब काज़िम का 'इस्लाहे उर्दू' शीर्षक लेख।

सुयोग्य सम्पादक ने 'हमारी ज़बान और ज़रूरियात ज़माना' शीर्षक अपने नोट मे इस तरह बयान की है :—

"... एक और मसला भी ग़ौरतलब है, वह यह कि आया उर्दू हरूफतहज्जी में हमआवाज़ हरूफ़ रखने की ज़रूरत है या नहीं। मसलन ط ض ص ذ। उर्दू में सब एक ही आवाज़ देते हैं, फिर क्यों न इस आवाज़ के लिए सिर्फ़ 'ज़े' (ز) रक्खी जाय और बाक़ी हरूफ़ ख़ारिज कर दिये जायँ ? अहले अरब की ज़बान से 'ज़ो' ज़्वाद और ज़ाल के तलफ्फ़ुज़ अलग अलग अदा होते हैं, मगर हिन्दी की ज़बान से सिर्फ़ एक ही अवाज़ निकलती है और इसके लिए 'ज़े' काफी है।"

"इस तजवीज़ के मुताल्लिक़ यह ऐतराज़ किया जाता है कि अगर यह हरूफ ख़ारिज कर दिये गये तो बहुत से अलफाज़ की असलियत मालूम न हो सकेगी, मगर अब भी तो हज़ारहा अलफाज ऐसे हैं कि जिनकी असलियत सिर्फ़ लफ्ज़ों के देखने या सुनने से नहीं मालूम होती। जो तरीक़ा उनकी असल दरियाफ़्त करने के लिए अमल मे आता है, वही इनके लिये बरता जाय। अलावा अलफाज वग़ैरा के असल की तहक़ीक़ लुग़ात-नवीसों का काम है या मुहक़्क़िक़ ज़बान का। आम अहले जबान को इससे कुछ ताल्लुक़ नहीं। दूसरा ऐतराज़ यह है कि अलफाज की तहरीर में मुशाबहत (समामता) पैदा होने से मानी में इल्तबास (सन्देह) पैदा होगा। लेकिन इस वक्त भी हमारी ज़बान मे सदहा (सैकड़ों) अलफाज ऐसे हैं जो एकही तरह से लिखे जाते हैं, मगर मानी मुख्तलिफ है, इस लिए दोनों ऐतराज़ कुछ ज़्यादा क़ाबिल वक़अत नहीं।*"

---

* रिसाला 'उर्दू' मास अक्टूबर सन् १६२२ ई०।

ऐसे शब्द जिनका उच्चारण और अर्थ एक है, परन्तु लिखे दो तरह के जाते हैं :—

तयार	طیار / تیار	सही	صحیح / سہی
शतरज	شطرنج / شترنج	सहनक	صحنک / سہنک
क़फ़स	قمبس / قمص	मिसल	مثل / مسل
ताश	تاش / طاش	तश्त	طشت / تشت
तन्तना	طنطنہ / تنتنہ	ज़रा	ذرا / زرا
तबाशीर	طباشیر / تباشیر	रज़ाई	رضائی / زرائی
मसाला	مصالہ / مسالہ	इत्यादि, इत्यादि	
ख़ैरसल्ला	خیرصلا / حیرسلا		

उर्दू में अरबी फारसी के कुछ ऐसे शब्द जिनका उच्चारण तो एकसा है पर इमला और अर्थ में भेद है, जैसे—

	शब्द	अर्थ
सवाब	ثواب	बदला
	صواب	ठीक, दुरुस्त
इसरार	اسرار	भेद, रहस्य
	اصرار	आग्रह, अनुरोध
मामूर	مامور	हुक्म दिया गया
	معمور	आबादी, बस्ती
नज़ीर	نظیر	मिसाल, मानिन्द
	نذیر	डरानेवाला
	نضیر	आबादार, ताजा, यहूदियों के क़बीले का नाम
कसरत	کثرت	ज्यादती, अधिकता
	کسرت	व्यायाम, वरज़िश
सदा	صدا	आवाज़
	سدا	हमेशा
असराफ	اسراف	फजूलख़र्ची
	اصراف	लफ़्ज़ 'सर्फ़' का बहुवचन

नज़र	نظر	दृष्टि
	نذر	भेंट

इसी प्रकार हज़ार (حضر حذر), सफ़र (سفر صفر), मतबूअ (مطبوع, متبوع) इत्यादि, इत्यादि ।

ऐसे शब्द जो केवल नुक़ते के हेरफेर मे कुछ के कुछ हो जाते हैं:—

शब्द		अर्थ	
नबी	نبی	सन्देशवाहक	پیغمبر
बनी	بنی	बेटे	بنی (ابن کی جمع)
लुग़त	لغت	कोष	فرہنگ
नात	نعت	तारीफ़	تعریف
नबात	نبات	मिश्री, सब्ज़ी	مصری سبزی
बिनात	بنات	बेटियाँ	بیٹیاں
ख़ुदा	خدا	ख़ुदा	
जुदा	جدا	जुदा	

उर्दू में 'ज़ेर', 'ज़बर', 'पेश' के ज़रा से भेद से एक ही शब्द के अनेक अर्थ और बहुवचन में भिन्नता :—

शब्द		अर्थ	बहुवचन	
मलक	مَلَک	فرشتہ	मलायक	مَلائک
मलिक	مَلِک	بادشاہ	मुलूक	مُلوک
मुलुक	مُلک	ملک دیس	ममालक	مَمالک
मिलक	مِلک	جاگیر	इमलाक	اِملاک

यही शब्द 'ज़ेर', 'ज़बर, 'पेश' की ज़रा सी हरकत से इतने रूप और धारण कर लेता है :—

मलुक	مَلُک
मुलक	مُلَک
मुलिक	مُلِک
मिलुक	مِلُک
मिल्क	مِلْک

यह थोड़े से उदाहरण तो फ़रसी लिपि की सन्दिग्धता और भ्रामकता के उन शब्दों के सम्बन्ध में हैं, जिनसे उर्दू भाषा भरी पड़ी है। फारसी लिपि मे लिखे गये सस्कृत और हिन्दी शब्दों की जो दुर्दशा होती है और अर्थ का अनर्थ हो जाता है। उसका तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। इसके भी कुछ उदाहरण सुनिये—

उर्दू में दूसरी भाषा के शब्द

"कुल्लियाते वली" में हिन्दी के बहुत से ऐसे शब्द आये हैं, जिनका प्रयोग आजकल के उर्दू कवि नहीं करते। कुल्लियाते वली के सम्पादक जनाब मौलवी अली अहसन साहब 'अहसन' मारहरवी ने ऐसे शब्दों की एक तालिका 'फरहङ्ग दीवाने वली, की सुर्ख़ी से अकारादि क्रम से दी है। उसमें उन शब्दो के अर्थ भी दिए हैं। दीवान वली मे एक जगह 'दाड़िम' शब्द आया है। दाड़िम शब्द सस्कृत का है और हिन्दी में भी बहुत प्रसिद्ध है। इसका अर्थ अनार है। फारसी लिपि में 'दाल' और 'वाव' (د ,او, و) की शक्ल बहुत मिलती जुलती है, कुछ यों ही ज़रा सा फ़र्क़ है, जो शिकस्ता लिखने में मालूम नहीं पड़ता। अहसन साहब ने दाड़िम को 'वाड़म' समझ कर फ़रहग में उसे 'वाव' की रदीफ मे 'वाड़म' (واڑم) लिखकर अर्थ

दिया है—"ग़ालिबन् दकनी ज़बान में अनार को कहते हैं।" 'अहसन' साहब क़यास या अटकल से मानी तक तो पहुँच गये, पर शब्द के स्वरूप को न पहचान सके, और यह भी न जान सके कि 'वाड़म' शब्द दकनी का है या ठेठ सस्कृत वा हिन्दी का। अहसन साहब उर्दू फ़ारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान्, सुलेखक और सुकवि हैं। शाइरी में आप 'दाग़' के जानशीन समझे जाते हैं। 'तारीख़ नसर उर्दू' आप ही ने लिखी है, मतलब यह की उर्दू साहित्य के आप प्रतिष्ठित और विशेपज्ञ विद्वान् हैं। जब वह भी फारसी लिपि की भ्रामकता के कारण ऐसी भारी भूल कर सकते हैं, तो साधारण उर्दू जाननेवालों का ज़िक्र ही क्या है। वह जितना भी धोखा खायँ थोड़ा है।

कहा जा सकता है कि अहसन साहब सस्कृत या हिन्दी नहीं जानते, इसलिए फारसी लिपि मे लिखे हुए 'दाड़िम' को 'वाड़म' पढ गये, इसलिए क्षन्तव्य हैं, पर हम देखते हैं कि हिन्दी के बडे बड़े 'आचार्य' भी फ़ारसी लिपि में लिखा होने के कारण अपने हिन्दी सस्कृत शब्दों को पहचानने में कभी कभी भयानक भूल कर जाते हैं, इसका भी एक उदाहरण देख लीजिए—

सय्यद इन्शा की वह मशहूर कहानी जिसका ज़िक्र मौलाना आज़ाद ने 'आबे हयात' में किया है, और जो औरङ्गाबाद (दक्षिण) के तिमाही रिसाले 'उर्दू' मे छप चुकी है, वह काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा नागराक्षरों में (संवत् १९८२ वि०) में भी प्रकाशित हुई है, जिसका सम्पादन सुप्रसिद्ध विद्वान् बाबू श्यामसुन्दर दास जी, बी० ए०, ने किया है। कहानी के आरम्भ में आपकी लिखी १८ पृष्ठ की एक भूमिका भी है। सैयद इन्शा ने अपनी कहानी मे एक हिन्दी छन्द लिखा है, जिसका पाठ सभा की प्रति में पृष्ठ ३५ पर इस प्रकार है—

जब छाँड़ि के करील कुञ्ज कान्ह द्वारिका माँ जाय छिपे।
कुलधूत धाम बनाय घने महराजन के महराज बने,

मोरमुकुट और कामरिया कछु और हि नाते जोड़ लिए।
धरे रूप नए किए नेह नए और गइयाँ चरावन भूल गए॥

इस छन्द के दूसरे चरण का पहला पद 'कुलधूत' फ़ारसी लिपि की करामात का जीता जागता नमूना है, जिसने अनेक ग्रन्थों के सम्पादक और लेखक "आचार्य" को भी भ्रम में डाल दिया। मालूम ऐसा होता है कि नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक का पाठ फ़ारसी अक्षरों में छपी हुई उस प्रति के आधार पर छापा गया है, जिसकी प्रति का उल्लेख राय साहब ने अपनी भूमिका में किया है। यह 'कुलधूत' वास्तव में 'कलधौत' का जन्मान्तर है। फ़ारसी अक्षरों में कलधौत और कुलधूत (کل دھوت) एक ही तरह लिखा जाता है, कलधौत शब्द सस्कृत का है, और अपने तत्सम रूप में हिन्दी में भी प्रचलित है, जिसका अर्थ सोना-चाँदी दोनों हैं।* इसका प्रयोग 'रसखान' के प्रसिद्ध सवैये में भी आया है—

"कोटिन हू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारों।"

'इन्शा' ने भी इस शब्द का प्रयोग इसी रूप में और इसी अर्थ

---

* कलधौत सुवर्णे स्याद् रजते च नपुंसकम् (हैमः)
कलधौत रूप्य हेम्नोरिति　(विश्वः)
कलधौत रूप्य हेम्नोरिति　(अमरः)
······ कलधौत धामस्तम्भेषु　माघ० ३। ४७
·········धौतकल धौत मही　माघ० ४। ४१
··· · ··कलधौत भित्तीः　माघ० ४। ३१
कलधौत धौत······　माघ० १३। ५१
कन्येयं कलधौत कोमल रुचिः।　(हनूमन्नाटक)
समन्तात् कलधौताग्रा उपासगे हिरण्मये।
महा० गोहरण पर्वणि ४०। ६

में किया है, 'कुलधूत' का तो यहाँ कुछ अर्थ ही नहीं बैठता, आश्चर्य है कि यह ग़लती (कलधौत का कुलधूत) 'इन्शा का काव्य' नामक पुस्तक में भी (जो उक्त सभा के एक विद्वान् सदस्य द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुई है) इसी रूप में ज्यों की त्यों मौजूद है। ख़ैरियत गुज़री कि 'गैया चरावन' (گیا چراون) का 'गय्या चुरावन' नहीं हो गया।

संस्कृत नाम फारसी लिपि में कभी सही नहीं पढ़े जाते, कुछ मे कुछ बनकर अजीब शकल अख़्त्यार कर लेते हैं, उनके समझने और सही पढ़ने मे कितनी दिक़्क़तें पेश आती हैं, इसके भी कुछ नमूने सुन लीजिए—

"संस्कृत के अरबी और फ़ारसी तराजुम" शीर्षक लेखमाला में शेख़ मुहम्मद इस्माईल (सेक्रेटरी ओरियंटल पब्लिक लाइब्रेरी' पानीपत, ने लिखा है—

" ...इससे पहले चन्द साल हुए सिर्फ़ मौलाना शिबली मरहूम ने अपनी किताब 'तराजुम' में दूसरी ज़बानों के ज़ैल मे संस्कृत के 'तराजुम' की मुख़्तसर और सरसरी तारीफ़ बयान की है, शायद मौलाना मरहूम इसे कुछ मुफ़स्सल बयान कर सकते, मगर संस्कृत कुतुब (किताबों) के नामों की सेहत और तलफ़्फ़ुज़ अलफ़ाज़ से घबराकर इस फ़िकरे पर अपने मज़मून को ख़त्म कर दिया कि "मुबहम और ग़ैर सहीहुत्तलफ़्फ़ुज़ (غیر صحیح التلفظ) नाम लिखते लिखते में आजिज़ आ गया हूँ।"

'शिबली' साहब ने तंग आकर संस्कृत नामों का लिखना छोड़ दिया, लेकिन शेख़ मुहम्मद इस्माईल साहब ने बड़ी खोज और परिश्रम के साथ तफ़सील से उन संस्कृत ग्रन्थों के नाम लिखे हैं जिनके तर्जुमे अरबी और फ़ारसी मे हुए थे, मगर फ़ारसी लिपि की भ्रामकता के कारण संस्कृत ग्रन्थो के नाम अक्सर कुछ के कुछ हो गये हैं, संस्कृत

जाननेवाले भी उन नामों को मुश्किल से पहचान सकते हैं। जैसे 'साङ्ख्य' का सखिया (سنکھیا) बृहत्सहिता का 'बरी हमहत्या' (بری ھمھتیا) !

एक दूसरे विद्वान् सज्जन जनाब हामिद जमाल साहब का 'बगाली ज़बान पर मुसलमानों के अहसान' शीर्षक लेख रिसाला 'उर्दू' (जुलाई सन् ३०) मे छपा है। यह लेख रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता के उर्दू अनुवाद की भूमिका का एक अश है। 'उर्दू' के सुयोग्य सम्पादक ने अपने सम्पादकीय नोट मे इस लेख की बड़ी प्रशसा की है। लिखा है—

"मज़मून दर असल पढ़ने और दाद देने के क़ाबिल है।" इस प्रकार के उस 'प्रशसित' लेख मे सस्कृत शब्दों का रूप फारसी लिपि मे इस प्रकार दिया है—

गौड प्राकृत का گودا پراکرت (गौदा पिराकिरत)

इस शब्द पर फ़ुट नोट है—'गौदा बगाल को कहते है।' फिर पञ्च गौड़ (सारस्वताः कान्यकुब्जा गौड़-मैथिल उत्कलाः) का अर्थ समझाया है—'पाँचों गोद के लोग سوار سوتا یعنی پنجاب सवारसोता (सारस्वत) यानी पजाब, کنیا کوجا یعنی قنوج कन्या कूजा (कान्यकुब्ज) यानी क़न्नौज; گود یعنی بنگال गोद (गौड़) यानी बंगाल, متھیلا یعنی دربھنگا मथीला (मैथिल) यानी दरभगा, اُڑیسہ یعنی اِتکالا इतकाला, अलिफ के नीचे ज़ेर का निशान लगा है— (उत्कल) यानी उड़ीसा—यह सब मिलकर पाँच गौद कहलाते हैं।

इसी लेख मे कुछ और शब्द भी इसी तरह के हैं—धर्माधिकारी का دھرمادھیکر (धर्माधीकर)। इस शब्द का अर्थ लिखा है क़ाज़ी। पात्र का پترا पत्रा। इसका अर्थ लिखा है वज़ीर। अट्टालिका का اتھالیکا अथालीका—'इमारत।' दमयन्ती का दमायन्ती, मधुर रसका

मधुरा रस। चण्डीदास का चाँदी दास, چاندی داس (लगभग १०-१२ बार यह शब्द इसी रूप में आया है), नकुल का नकोला نکولا (चण्डीदास का भाई); चातक का चटाका چٹاکا, सावित्री देवी का سراوتی دیوی सरावती देवी, पार्वती का پربتی परबती, चैतन्य (महाप्रभु) का چترنیا चर्तनिया (६ बार आया है), ज्ञानदेव का دنیاں دیو दनिया देव, आदि।

लिपि के इस दोष और लेखक की हिन्दी अनभिज्ञता ने "पढ़ने और दाद देने क़ाबिल" मज़मून की सूरत बिगाड़ दी है। मालूम ऐसा होता है कि अनुवादक बँगला भी नहीं जानते और उन्होंने रवीन्द्रनाथ के ग्रन्थों के अँग्रेज़ी अनुवाद से काम लिया है।

फरान्सीसी विद्वान् गार्सा द' तासी के व्याख्यानों का जो उर्दू अनुवाद 'उर्दू' पत्र मे प्रकाशित हुआ है, उसमे भी हिन्दी संस्कृत नामों का, अनुवादक के हिन्दी न जानने के कारण, ऐसी दुर्दशा हुई है यथा—

अमरुशतक	का	امر سکتا	अमर सकता
भक्तमाल	का	بھگت مل	भगतमल
गीत गोविन्द	का	گیتا گوبند	गीता गोबिन्द
अग्रदास	का	آگرہ داس	आगरा दास
ऊषा	का	اوچھا	ऊछा

चातक का चटाका, अग्रदास का आगरा दास और चण्डीदास का चाँदी दास पढ़ा जाना एक हिन्दी और बँगला न जानने वाले के लिए रोमन लिपि मे ही सभव है। रोमन लिपि से संस्कृत शब्दो की नक़ल करने में, सस्कृत हिन्दी न जाननेवाले लेखक से ऐसी ग़लतियाँ अक्सर हो जाया करती हैं। 'क़वाइदे-उर्दू' के विद्वान् लेखक मौलाना अब्दुल्-हक साहब ने हिन्दी के किसी अंग्रेज़ी व्याकरण मे 'तत्सम' शब्द लिखा देखा और उर्दू में उसकी नक़ल करते वक्त उसे 'टटसमा' (ٹٹ سما)

लिख दिया। 'क़वाइदे-उर्दू' के पृष्ठ ३४ पर लिखा है—"बाज़ हिन्दी लफ्ज जो टटसमा यानी ख़ालिस सस्कृत के हैं।" जो लोग भारतीय भाषाओं या हिन्दुस्तानी के लिए रोमन लिपि ग्रहण करने की सिफारिश करते हैं, वह रोमन लिपि की इस विचित्र लीला को ज़रा ध्यान से देखे।※

हज़रत 'अकबर मरहूम ने हिन्दी के मुताल्लिक़ एक शाइराना लतीफा लिखा है। हिन्दी के विरोधियों को समझाया है। फरमाया है—

> **दोस्तो तुम कभी हिन्दी के मुख़ालिफ़ न बनो,**
> **बाद मरने के खुलेगा कि य' थी काम की बात।**
> **बस कि था नाम-ए-ऐमाल मेरा हिन्दी मे,**
> **कोई पढ़ ही न सका मिल कई फ़िलफौर नजात।**

'अक्बर' साहब हिन्दी और नागरी से अपरिचित थे।† इसी वजह से उन्होंने हिन्दी के बारे मे ज़राफ़त के पैराये मे ऐसा ख़याल ज़ाहिर

※ रोमन लिपि में चातक, अग्रदास, तत्सम आदि इस प्रकार लिखे जाते हैं :—

Chataka, Agradasa. Chandıdasa, Tatsama.

† एक बार जब मैं 'अकबर' साहब से मिलने उनके मकान इशरत मंज़िल में गया, तो मौलना मीर गुलाम अली साहब आज़ाद बिलग्रामी की फ़ारसी किताब 'सर्वेआज़ाद' दिखाकर बोले कि 'फ़ारसी कलाम के साथ इनमें कुछ हिन्दी कलाम भी है जो सही पढ़ा नहीं जाता, समझ में नहीं आता, इसमें से कुछ हिन्दी कलाम सुनाइये तो"। मैंने सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' की हिन्दी कविता हिन्दी मे पढ़ी थी, जो 'सर्वे अज़ाद' में भी दी हुई थी' इस लिए मैं उसे किसी तरह पढ़ सका और उसका मतलब भी उर्दू में समझाया। सुनकर बहुत ख़ुश हुए और कहने लगे—

फरमाया है। वर्ना इन्साफ से देखा जाय तो यह बात फारसी उर्दू के हक़ में कही जा सकती है—उसी पर चस्पाँ होती है।

अरबी फारसी लिपि सिर्फ भारतीय भाषाओं ही के लिये अनुपयुक्त नहीं है, टर्की और फारिसवाले भी इससे तग हैं, वहाँ भी इसके विरुद्ध आन्दोलन हो रहा है, टर्की में तो अरबी लिपि की जगह रोमन अक्षरों का रिवाज हो ही गया है, फारिस मे भी इसके विरुद्ध चर्चा चल रही है। ईरान के प्रिन्स मिर्ज़ा मलकम ख़ाँ नाज़िमुद्दौला ने 'कुल्लियाते मलकम' जिल्द अव्वल में फारसी लिपि के विरुद्ध चौबिस दलीलें दी हैं, और

"आज हिन्दु-मुसलमान हिन्दी उर्दू के लिए भी लड़ते हैं, दूसरी बातों के सिवा ज़बान का सवाल भी लड़ाई का सबब बन रहा है। देखिये, यह पहले मुसलमान शाइर अरबी-फ़ारसी के आला दर्जे के शाइर होने के बावजूद हिन्दी मे भी कैसी अच्छी शाइरी करते थे। काश मुझे भी हिन्दी आती होती तो मैं भी हिन्दी में कुछ लिखता।"

मैंने अर्ज़ किया कि इतना तो आप अब भी कर सकते हैं कि हिन्दी के आम फ़हम अलफ़ाज़ (जिन्हें आजकल उर्दू के शाइर और मुन्शी मतरूकात की मद में दाख़िल करके बिला वजह छोड़ते जा रहे हैं, और उनकी जगह फ़ारसी अरबी के मुश्किल अलफ़ाज़ ढूँढ ढूँढकर इस्तेमाल करते हैं,) अपने कलाम में कसरत से दाख़िल कीजिए, जिससे दूसरे भी उसकी तक़लीद करें; ज़बान और सलीस और आमफ़हम हो जाय। इस पर फ़र्माया—

"मुनासिब तो यही है, पर अफ़सोस है मुझे हिन्दी आती नहीं, वर्ना मैं ज़रूर ऐसा करता, हिन्दी आ जाय तो आपके मशवरे पर अमल करूँ। कोई हिन्दी दाँ दोस्त इसमे इमदाद करे, तो हो सकता है। आप मुझे हिन्दी सिखा दीजिये।"

फारिसवालों से इसे छोड़कर कोई दूसरी लिपि ग्रहण करने की अपील की है। 'कुल्लियात मलकम' सन् १३२५ हिजरी (१९०७) में तेहरान में छापा था।*

शैलीभेद

हिन्दी उर्दू को दो भिन्न भागों में विभक्त करने का एक कारण शैलीभेद भी हुआ है। शैलीभेद व्याकरण भेद और लिपिभेद आदि का ही परिणाम है—भेद के इन कारणों की मौजूदगी मे ऐसा होना अनिवार्य था। इसकी नीव अब से बहुत पहले पड़ चुकी थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में डा० जान गिलक्राइस्ट के प्रयत्न से दोनों भाषाओं का भेद मिटाने के लिए हिन्दी उर्दू में जो पुस्तकें तयार कराई गई थीं, उनमे भी शैलीभेद स्पष्ट रूप में मिलता है। यही नहीं कि उन पुस्तकों को लिखनेवाले मीर अम्मन और प० सदल मिश्र आदि की शैलियो में असमानता है, बल्कि हिन्दी और उर्दू के इन लेखकों में भी आपस मे शैली का भारी भेद मौजूद है। जिन लेखकों पर अरबी, फारसी का गहरा रंग चढ़ा हुआ था, उनकी रचना में हिन्दी या हिन्दुस्तानी की जगह अरबी और फ़ारसी शब्दों की बहुतायत है। अक्सर मुहावरे भी वैसे ही है। "फिसाने अजायब' की मुक़फ्फ़ा इबारत का भी रग कहीं कहीं झलक रहा है। इधर प० सदल मिश्र और प० लल्लू जी लाल की रचनाओं मे भी कुछ ऐसी ही बात पाई जाती है। उनकी भाषा में व्रजभाषा और संस्कृत की पुट है। प्रयत्न करने पर भी वह अपनी भाषा को हिन्दुस्तानी नहीं बना सके और न मीर सम्मन की बोली में अपनी बोली ही मिला सके।

---

* मौलवी महेशप्रसाद आलिम फ़ाज़िल की 'मेरी ईरानयात्रा', पृष्ठ २३४-३५।

यदि व्याकरण और लिपि आदि के भेदो को दूर कर दिया जाता, तो दोनों भाषाओं को एक रूप देने मे सफलता सम्भव थी। उस दशा मे शैलीभेद उत्पन्न ही न होता। यदि होता भी तो उतना ही होता जितना बगला और गुजराती के हिन्दू मुसलमान लेखकों की शैली मे है। उस नगण्य शैलीभेद से बगला और गुजराती में हिन्दी उर्दू के समान दो सर्वथा विभिन्न दिशाओं में चलनेवाली शैलियाँ उत्पन्न नहीं होने पाईं। हिन्दी उर्दू मे यह शैलीभेद कुछ विचित्र रूप मे उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। इसको दूर करने का समूह रूप से कभी कोई प्रबल प्रयत्न नहीं किया गया।

प्रारम्भ में यह भेद इतना न था। ज्यों-ज्यों हिन्दी उर्दू के साहित्य मे वृद्धि हुई, उसी अनुपात से शैली भेद भी बढ़ता गया। अब तो यहाँ तक नौबत पहुँच गई है कि इसके कारण हिन्दी उर्दू बिलकुल ही दो जुदा भाषाएँ बन गई हैं। इस भेद की उत्पत्ति के कारणों पर और इतिहास पर विचार कर लेना आवश्यक है। भाषा की इन दो शाखाओं में भेद उत्पन्न हो जाने पर भी पहिले के कवि और लेखक आज कल के कवि लेखकों से समझदार और समन्वयवादी थे। पहले उर्दू कवियों ने हिन्दी शब्दों का इस्तेमाल बड़ी बेतकल्लुफ़ी से किया है। इसी प्रकार हिन्दी के कवियों ने अपनी भाषा को फ़ारसी अरबी के प्रचलित शब्दों के प्रयोग से वञ्चित नहीं रक्खा। इसके कुछ उदाहरण भी दोनों भाषाओं की कविताओं से, आगे दिए गए हैं।

प्रचलित ठेठ हिन्दी शब्दों का बहिष्कार और उनकी जगह अप्रचलित अरबी, फ़ारसी या सस्कृत शब्दों की भरमार भाषा-भेद का एक प्रधान कारण है। यह प्रवृत्ति पहिले नहीं थी। उर्दू के पुराने कवि और लेखकों ने अपनी रचनाओं में ठेठ हिन्दी शब्दों का प्रयोग बड़ी अधिकता से किया है। उर्दू मे कठोर फारसी अरबी शब्दों के प्रयोग का प्रचार लखनऊ स्कूल है, दिल्ली के कवि और लेखक भाषा

के विषय में बड़े उदार थे। दिल्ली के मुक़ाबिले मे जब लखनऊ वालों का स्कूल क़ायम हुआ, तो उन्होंने जान बूझकर दिल्ली की भाषा से अपनी भाषा का पलड़ा भारी करने के लिये 'मतरूकात' का नया क़ानून जारी करके उर्दू भाषा का 'कायाकल्प' कर डाला ! ऐसा क्यों हुआ, इसका कारण मौलाना हाली ने अपने दीवान के मुक़द्दमे (आलोचनात्मक विस्तृत भूमिका) मे यह बतलाया है :—

"... . ...जब दिल्ली बिगड़ चुकी और लखनऊ से ज़माना मुवाफ़िक़ हुआ और दिल्ली के अकसर शरीफ़ ख़ानादन और एक आध के सिवा तमाम नामवर शोरा (कविगण) लखनऊ ही मे जा रहे और दौलत व सरवत के साथ उलूम क़दीमा (प्राचीन विद्याओं) ने भी एक ख़ास हद तक तरक्क़ी की, उस वक्त नेचरल तौर पर अहले लखनऊ को ज़रूर यह ख़्याल पैदा हुआ होगा कि जिस तरह दौलत और मन्तिक़ व फ़िलसफ़ा (तर्क और दर्शन) वग़ैरा में हमको फ़ौक़ियत (महत्ता) हासिल है, इसी तरह ज़बान और लबोलहजे में (उच्चारण और टोन) मे भी हम दिल्ली से फ़ायक़ हैं, लेकिन ज़बान मे फ़ौक़ियत साबित करने के लिये ज़रूर था कि अपनी और दिल्ली की ज़बान मे कोई अमर माबउल्-इम्तियाज (भेदसूचक बात) पैदा करते, चूँकि मन्तिक़ व फ़िलसफ़ा व तिब (चिकित्साशास्त्र आयुर्वेद) व इल्मे-कलाम (वाक्य मीमासा) वग़ैरा की मुमारसत (योग्यता अभ्यास) ज़्यादा थी, ख़ुद बख़ुद तबीअतें इस बात की मुक़तज़ी हुईं कि बोलचाल मे हिन्दी अलफ़ाज़ रफ़्ता-रफ़्ता तर्क और उनकी जगह अरबी अलफ़ाज़ कसरत से (अधिकता से) दाख़िल होने लगे, यहाँ तक कि सीधी सादी उर्दू उमरा (अमीरों) और अहले-इल्म (विद्वानों) की सासाइटी मे मतरूक (निषिद्ध) ही नहीं हो गई, बल्कि जैसा सक़ात से (मौतबिर लोगों से) सुना गया है, मायूब (दूषित समाज) और बाज़ारियों की गुफ़्तगू समझी जाने लगी, और यही रग रफ़्ता-रफ़्ता नज़्म

और नसर पर भी ग़ालब आ गया। नज़्म में 'जुरअत' और 'नासिख़' के दीवान का और नसर मे 'बग़ोबहार' और 'फ़िसाने अजायब' का मुक़ाबिला करने से इसका काफ़ी सबूत मिलता है।"*

मतरूकात

'मतरूकात' के क़ानून ने उर्दू के दायरे को हिन्दुस्तानीपन की दृष्टि से बहुत ही तंग कर दिया है, यहाँ तक कि उर्दू के जिस कवि और लेखक ने हिन्दी अलफ़ाज़ के इस्तेमाल से और हिन्दुस्तानी ख़यालात के इज़हार से ज़बान को वसअत और तरक्की देने का क़ाबिल क़दर काम किया, उसे ही 'अहले ज़बान' फ़हरिस्त से ख़ारिज कर दिया गया—ज़बान के बारे में उसे मुस्तनद नहीं माना गया। मिसाल के लिये मियाँ नज़ीर को लीजिये। इन्साफ़ से देखा जाय तो उर्दू शाइरों मे एक मियाँ नज़ीर ही ऐसे हुए हैं, जिन्होंने क्या ज़बान और क्या ख़्यालात और तलमीहात के लिहाज़ से ठेठ हिन्दुस्तानीपन का हक़ अदा किया है। नज़ीर को हम ख़ालिस हिन्दुस्तानी शाइर कह सकते हैं। उनका कलाम हिन्दुस्तानीपन का बेहतरीन नमूना है। हिन्दुस्तानी त्योहार, रस्मोरिवाज, मेले-ठेले और भारतीय सामाजिक जीवन का जैसा सच्चा सही और जीता जागता ख़ाका अपनी नज़्मों में मियाँ नज़ीर ने खींचा है, और जितने हिन्दुस्तानी शब्दों और मुहावरों का अधिकता से प्रयोग उन्होंने किया है, उसकी मिसाल किसी भी उर्दू या हिन्दी लेखक के यहाँ नहीं मिलती। उन्होंने हिन्दुस्तानी कविता की सिर्फ़ नींव ही नहीं डाली बल्कि उसकी एक शानदार इमारत भी खड़ी कर दी है। उनके इस आदर्श उपकार को ध्यान में रखकर हिन्दुस्तानीपन के हामियों और क़ौमियत के पुजारियों का फ़र्ज़

---

* 'शेरोशाइरी' पर हाली का मुक़द्दमा, पृ० १४८-४९।

था कि वह उनकी पूजा करते, मगर अफ़सोस है कि इस जुर्म में उर्दू के ग़नी लोगों की ख़ुदपरस्ती ने उन्हें 'मुस्तनद' और 'अहलेजबान' शोअरा की विरादरी से ही ख़ारिज कर दिया।

मौलाना हाली ने अपने मशहूर मुक़द्दमे मे मीर 'अनीस' के बारे में लिखते हुए मियाँ नज़ीर का ज़िक्रे-ख़ैर इस तरह किया है—

"आजकाल यूरोप में शाइर के कमाल का अन्दाजा इस बात से भी किया जाता है कि उसने और शोअरा से किस क़दर ज़्यादा अलफ़ाज ख़ुश सलीक़गी और शाइस्तगी से इस्तेमाल किये हैं। अगर हम भी इसी को मीआरे-कमाल (योग्यता का आदर्श) करार दे, तो भी मीर 'अनीस' को उर्दू शोअरा मे सबसे बरतर (श्रेष्ठतम) मानना पड़ेगा। अगर्चे नज़ीर अकबराबादी ने शायद मीर 'अनीस' से भी ज़्यादा अलफ़ाज़ इस्तेमाल किये हैं, मगर उसकी ज़बान को अहले-ज़बान कम मानते हैं, बख़िलाफ मीर 'अनीस' के, उसके हर लफ़्ज़ और हर मुहावरे के आगे सबको सर झुकाना पड़ता है"— (पृष्ठ १८२)।

मतरूकात के क़ानून का उर्दू शाइरी पर क्या असर हुआ, इसके मुताल्लिक़ मौलाना अब्दुलहक़ साहब की राय है:—

" बाद के उर्दू शोअरा पर फारसी का रग ऐसा ग़ालिब आया कि यह ख़सूसियत उर्दू शाइरी से बिलकुल उठ गई और रफ्ता-रफ्ता बहुत से हिन्दी अलफ़ाज़ भी ज़बान से ख़ारिज हो गये और उस्तादी अलफाज़के मतरूक करने में रह गई।

"..... बाद में ऐसे अदीब (साहित्यिक) और शाइर आये, जो मये-शीराज़ (फारसी) के मतवाले थे। इन्हें जो चीज़े अजनबी और ग़ैर-मानूस और अपने ज़ौक़ के ख़िलाफ़ नज़र आई, वह उन्होंने चुन-चुनकर फेक दीं और बजाय हिन्दी के फ़ारसी अन्सर (अंश) ग़ालिब आ गया। इसमे 'वली' और उसके हम-असर भी

एक हद तक क़ाबिले इलज़ाम हैं। ... 'इस ज़माने में मौलवी हाली एक ऐसे शाइर हुए हैं, जिन्होंने उर्दू में हिन्दी की चाशनी देकर कलाम मे शीरीनी पैदा कर दी है, मगर हम-असर शोअरा (समकालीन कवियो) मे इसकी कुछ क़दर न हुई।"

आज कल उर्दू-ए-मुअल्ला के तरफ़दार और विशुद्ध हिन्दी के ठेकेदार उर्दू मे हिन्दी लफ़्ज़ों की मिलावट और हिन्दी मे अरबी फ़ारसी शब्दो की खपत पर नाक-भौ चढ़ाते और आपत्ति करते हैं,* पर इस तरह की मिलावट अबसे बहुत पहले प्रारम्भ हो गई थी, जिसके सबूत में 'अमीर ख़ुसरो' और 'शकरगज' की कविता के यह नमूने मौजूद हैं:—

"ज़ हाले मिसकीं मकुन तग़ाफ़ुल,
दुराय नैना बनाय बतियाँ,
किताबे-हिजराँ न दारम् ऐ जाँ,
न लेहो काहे लगाय छतियाँ।
शबाने-हिजराँ दराज़ चूं ज़ुल्फ़ो—
रोज़े-वसलत चूँ उम्र कोताह;

---

* एक मरतबा एक साहब ने यह मशहूर शेर पढ़ा—

"वक़्त मुझ पर दो कठन गुज़रे हैं सारी उम्र में,
आपके आने से पहले आपके जाने के बाद।"

दूसरे साहब जो पास बैठे सुन रहे थे, बोले, शेर तो उम्दा है, लेकिन इसमें लफ़्ज़ 'कठन' सक़ील है, इससे ज़बान की फ़साहत में फ़रक़ आ गया। ग़ालबन् शाइर ने 'गराँ' या और कोई लफ़्ज़ मौज़ूँ किया होगा; किसी हिन्दीवाले ने उसके बजाय 'कठन' बनाकर शेर को फ़साहत के दर्जे से गिरा दिया।

सखी पिया को जो मैं न देखूँ,
तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ।
यकायक अज़ दिल दो चश्म जादू,
बसद फ़रेबम् बबुर्द तसकीं,
किसे पड़ी है जो जा सुनावे,
पियारे पी को हमारी बतियाँ।
चु शमअ् सोज़ाँ चु ज़र्रा हैराँ,
ज़ महू आँ मह बगश्तम् आख़िर,
न नींद नैनाँ न अंग चैना,
न आप आवें न भेजें पतियाँ।
बहक़ रोज़े-विसाले दिलबर,
कि दाद मारा फ़रेब 'ख़ुसरो';
सो पीत मन की दुराय राखौं,
जो जान (जाय) पाऊँ पिया की घतियाँ।"

❀ ❀ ❀

ज़रगर-पिसरे चू माह पारा,
कुछ घड़िये सँवारिये पुकारा,
नक़दे-दिले-मन गिरफ़्तो बिशिकस्त,
फिर कुछ न घड़ा न कुछ सँवारा।"

—अमीर ख़ुसरो

"वक़्ते-सहर वक़्ते-मुनाजात है,
ख़ेज़ दराँ वक़्त कि बरकात है।
नफ़्स मबादा कि बिगोयद तुरा,
ख़ुस्प चे ख़ेज़ी कि अभी रात है!

बा-दमे-ख़ुद हमदमा हुशियार बाश,
सोहबते-अग़यार बुरी बात है।
बा तने-तनहा च र वी ज़ी ज़मीं।
नेक अमल कुन कि वही सान है।
पन्द 'शकरगंज' ब दिल जाँ शिनो,
ज़ाया मकुन उम्र कि है हात है।

—शेख़ फ़रीदुद्दीन 'शकरगंज'

इस प्रकार की कविता संस्कृत कवियों ने भी की है—संस्कृत मे हिन्दी भाषा के पदों का पैवन्द लगाया है। एक कवि ने तो फारसी क्रियापदों को बड़ी ख़ूबसूरती से सस्कृत पद्य में खपाया है। इसके उदाहरण—

"ज्वरार्दिता या कटुकान् कषायन् ,
न चेत्पिबेत्किं वद वैद्य ! देयम् ।
निबोध हसी-मधुर-प्रचारे !
वहाँ बनफ़शा शरबत पिलावे।"

"पित्त-तापित-शरीर वल्लरी ,
सा सखी वद हकीम दवाई ।
औषध शृणु मृगाक्षि मनोज्ञं,
जा गुलाब-गुलकन्द खवादे।"

—रामकृष्ण कवि

❀ ❀ ❀ ❀

"त्वत्कीर्तिर्वरटा 'रसीद' जलधिं
'तरसीद' विप्रानलात्,
ऊर्ध्वं चा थ 'परीद' 'दीद' हिमंगु
'चस्पीद, तच्छान्तये।

फ़सीहाँ ख़ल्क़ के सारे तुझे शीरीं-बचन कहते,
पिशानी रोज़े-रोशन और ज़ुल्फ़ काली रैन कहते।

(पृष्ठ ३२०)

न मिल महताब में भी किससूँ ऐ चन्दरबदन हरगिज़,
तजल्ली में तेरा य' मुख अहै ख़ुरशैद महशर का।

(पृष्ठ ३२१)

खींचें आपस में अँखियों मने जूँ कुहले जवाहर,
उश्शाक़ के गर हाथ वो ख़ाके-चरन आवे।
चाहो कि होऊ* 'वली' की नैन जग में दूरबीं,
अँखियाँ में सुरमा पीर की ख़ाके-चरन करो।
चाहो कि पी के पग तले अपना वतन करो,
अव्वल अपस कूँ इजज़ में नक़शे-चरन करो।
तेरी निगाह की तेग़ सूँ हैं साहबे-सग्राम राम।

(पृष्ठ १४६)

इश्क़ तेरे की आग में ख़ुरशीद,
सिर सूँ ले पग तलक हुआ है अगन।

(पृष्ठ ३४८)

'सौदा'

आह इस दिल ने तजा नंगो हया को वरना,
क्या क्या बातें हैं तुम्हारी कि हमें याद नहीं।

(पृष्ठ ३३०)

---

*इसी तरह के हिन्दी और हिन्दी-फ़ारसी मिश्रित शब्दों के बीसियों नमूने 'वली' की शाइरी मे मौजूद हैं। 'वली' ने 'शकर-बचन,' 'नूरे नैन (नूरचश्म के बजाय), 'जामे-नैन' आदि शब्द भी अपनी भाषा में इस्तेमाल किये हैं।

छुटना ज़रूर मुख पै है ज़ुल्फ़े-सियाह का,
रोशन बग़ैर शाम न हो चेहरा माह का।
दुज़्द और ठगमार रहज़न हुस्न राहे-इश्क़ में,
नक़्द जानोजिन्स दिल के दख़्ल क्या निरबाह का।

(पृष्ठ २४१)

न दे दिल आतिशीं रुख़सार पर सौदा तू अब क्योंकर,
वो शोला देखकर मै हो गया चितभंग आतिश का।

(पृष्ठ २५०)

गहे ख़ूने-जिगर गह अश्क गाहे लख़्ते-दिल यारो,
किसूने भी कहीं देखा है य' बिस्तार रोने का।

(पृष्ठ २५१)

आ ख़ुदा के वास्ते इस बाँकपन से दरगुज़र,
कल मैं सौदा यूँ कहा दामन गहाकर यार का।

(पृष्ठ २५२)

मुख पर य' गोशवारा मोती का जलवागर है,
जैसे क़िरान बाहम हो माह मुश्तरी का।

(पृष्ठ २५४)

आने से ज़ौजे-ख़त के न हो दिल कूँ मुख़लिसी,
बँधुआ है ज़ुल्फ़ का य' छुटाया न जायगा।

(पृष्ठ २५६)

पैकाँ जो तन मे खटके है सो इलाज उसका,
काँटे का पर बिरह के चारा नहीं ख़लिश का।

(पृष्ठ २५७)

तरकश उलेंड सीना आलम का छान मारा,
मिज़गाँ के बान नें तो अर्जुन का बान मारा।

(पृष्ठ २५१)

लब ज़िन्दगी में कब मिले इस लब से ऐ कुलाल,
साग़र हमारी खाक़ को मथ करके गिल बना।

(पृष्ठ २६४)

ग़िज़ाले-दस्त की हरचन्द हैं अबला-फ़रेब आँखें,
पर अँखियों का तेरी ऐ यार उनमें छन्द क्योंकर हो।

(पृष्ठ ३४२)

नागन का इस ज़ुल्फ़ की मुझसे रंग न पूछो क्या हासिल,
ख़्वाह थी काली ख़्वाह थी पीली जिसने अपना काम किया।

(पृष्ठ २७४)

मुहब्बत के करूँ भुजबल की मैं तक़रीर क्या यारो,
सितम परवत हो तो उसको उठा लेता हूँ जूँ राई।

(पृष्ठ २७८)

दुखदिहन्द और भी हैं, लेक किसूने कोई,
दिलसामी दरप-ए-आज़ार कहीं देखा है।

(पृष्ठ २८८)

जले है शमा' से परवाना और मैं तुझ से,
कहीं है महर भी जग में कहीं वफ़ा भी है।

(पृष्ठ २१०)

जिस दिन तेरी गली की तरफ़ टुक पवन बहो,
मैं आपको जला के करूँ ख़ाक तो सही।

(पृष्ठ २१९)

सौदा वतन को तजकर गरदिश से आसमाँ की,
आवार-ए-ग़रीबी है इतनी मुद्दतों से।

(पृष्ठ २१९)

बुलबुले-नालाँ व दर्दे-इश्क कुछ माक़ूल है,
साँस ले सकते नहीं जिनके बिरह की सूल है।

(पृष्ठ २१६)

बर्गे-गुल जिस तरह झड़कर बाव से,
पंख पर बुलबुल के आवे चाव से।

सौदा की हिन्दी गजल

निकल के चौखट से घर की प्यारे जो पट की ओझल ठिटक रहा है,
सिमट के घट से तेरे दरस को नयन में जी आ अटक रहा है।
अगन ने तेरे बिरह की जब से झुलस दिया है कलेजा मेरा,
हिये की धड़कन मैं क्या बताऊँ य' कोयला सा चटक रहा है।
जिन्हों की छाती से पार बर्छी हुई है रन में वो सूरमा हैं,
बड़ा वो सावन्त मन में जिसके बिरह का काँटा खटक रहा है।
मुझे पसीना जो तेरे मुख पर दिखाई दे है तो सोचता हूँ—
य' क्योंकि सूरज की जोत आगे हर एक तारा छुटक रहा है।
हिलोरी यों ले न ओस की बूँद लग के फूलों के पंखड़ी से,
तुम्हारे कानों में जिस तरह से हर एक मोती लटक रहा है।
कहीं जो लग चलने साथ देता हो इस तरह का कटर है पापी,
न जानूँ पेड़ी की धौल हूँ मैं जो मुझसे मुखड़ा झटक रहा है।
कभू लगा है न आते जाते जो बैठकर टुक इसे निकालूँ,
सजन! जो काँटा है तुझ गली का सो पग से मेरे भटक रहा है।
कोई जो मुझसे य' पूछता होय क्यों तू रोता है कह तो हमसे,
हर एक आँसू मेरे नयन का जगह जगह सिर पटक रहा है।
गुनी हो कैसा ही ध्यान जिसका तेरे गुनों से लगा है प्यारे,
ध्यान परबत भी है जो उसका तो छोड़ उसको सटक रहा है।
जो बात मिलने की होय उसका पता बता दो मुझे सिरीजन!
तुम्हारी बटियों में आज बरसों से यह बटोही भटक रहा है,
जो मैं ने 'सौदा' से जा के पूछा तुझे कुछ अपने भी मन की सुधबुध,

य' रोके मुझसे कहा किसी की लटक में लट की लटक रहा है।*

(पृष्ठ ३७१)

मीर तक़ी मीर

† ओखी हो गईं सब तद्बीरें कुछ न दवा ने काम किया,
देखा इस बीमारिये दिल ने आख़िर काम तमाम किया।

(पृष्ठ १५)

---

* 'सौदा' ने हिन्दी में भी कुछ कविता की है। इनकी पहेलियों की भाषा हिन्दी ही है। मरसियों में उन्होंने कुछ दोहे बनाकर भी खपाये हैं। यद्यपि उनकी सख्या अधिक नहीं है, पर इससे 'सौदा' के हिन्दी-ज्ञान का सबूत मिलता है। मरसियों में आये हुए उनके कुछ दोहे यह हैं:—

कारी रैन डरावनी घर तें होइ निरास।
जगल में जा सो रहे कोऊ आस न पास॥
बैरी पहुँचे आइकै तेरी देहली पास।
बेग ख़बर लो या नबी ! अब पत की नहि आस॥
खीज खीज चहुँ ओर से पड़े वह जालम टूट।
बेवों को डरपाय के ले गये घर को लूट॥
कहै हरम सर पीट कर खाकर अपनी लाज।
माटी में तू रल गयो दीन दुनी के ताज॥
खोयौ ते ने नीर बिन नबी के मन को चैन।
जालम तेरे हाथ से प्यासो गयो हुसैन॥

(पृष्ठ २१७)

† 'ओखी लफ़्ज 'चोखी' की ज़िद है—उसके मुक़ाबिले का लफ़्ज़ है। अब तक बोला जाता है। मीर की कुलियात (नवलकिशोर प्रेस, चौथा एडीशन, १९०७) में भी यही पाठ है। इस ठेठ पाठ को बदल कर अब कुछ लोगों ने 'उलट हो गईं' पाठ बना लिया है।

छाती से एक बार लगाता जो वो तो मीर,
बरसों य' ज़ख़्म सीने का हमको न सालता।

(पृष्ठ १८)

दुख अब फ़िराक़ का हमसे सहा नहीं जाता,
फिर इस प' .ज़ुल्म य' है कुछ कहा नहीं जाता।

(पृष्ठ २१)

रखा कर हाथ दिल पर आह करते,
नहीं रहता चिराग़ ऐसी पवन में।

(पृष्ठ ७८)

ख़ाली शिगुफ़्तगी से जराहत नहीं कोई,
हर ज़ख़्म यों है जैसे कली हो विकस रही।

(पृष्ठ १५७)

आतिशे-इश्क़ ने रावन को जलाकर मारा,
गरचे लंका सा था उस देव का घर पानी में।

(पृष्ठ २१९)

क्यों कर न चुपके चुपके यों जान से गुज़रिये,
कहिये बिथा जो उससे बातों की राह निकले।

(पृष्ठ २९३)

क्या लिखूँ बख़्त की बरगश्तगी नालों से मेरे,
नामाबर मुझसे कबूतर भी चपर जाता है।

(पृष्ठ ३२१)

इस आहु-ए-रमीदा की शोख़ी कहें सो क्या,
दिखलाई दे गया तो छलावा सा छल गया।

(पृष्ठ ३३०)

ख़ाना आबादी हमें भी दिल की यों है आरज़ू,
जैसे जलवे से तेरे घर आरसी का भर गया।

(पृष्ठ २३१)

शब इक शोला दिल से हुआ था बुलन्द,
तने-ज़ार मेरा भसम कर गया।

(पृष्ठ २३२)

इससे ज़्यादा होता न होगा दुनिया में भी मचलापन,
मौन किये बैठे रहते हो हाल हमारा सुनकर तुम।

(पृष्ठ २४६)

दिल की तह की कही नहीं जाती नाज़ुक है इसरारबहुत,
अछ्र तो हैं इश्क़ के दो ही लेकिन है इसरार बहुत।

(पृष्ठ २७१)

मिलने वाले फिर मिलियेगा है वह आलमे-दीगर में,
मीर फ़क़ीर को सुख है यानी मस्ती का आलम है अब।

(पृष्ठ २८१)

है उसकी हरफ़े-ज़ेर-लबी का सभों में ज़िक्र,
क्या बात थी कि जिसका य' विस्तार हो गया।

(पृष्ठ ३७)

इस ग़ुसीले से क्या किसूकी निभे,
मिहरबानी है कम अ़ताब बहुत।

(पृष्ठ ६७)

आजकल बेक़रार हैं हम भी,
बैठ जा चलनेहार हैं हम भी।

(पृष्ठ १२६)

कल बारे हम से उससे मुलाक़ात हो गई,
दो दो वचन के होने में इक बात हो गई।

(पृष्ठ १२७)

उसके फ़रोगे-हुस्न से झमके है सब में नूर,
शम-ए-हरम हो या कि दिया सोमनात (थ) का।

(पृष्ठ १२६)

भरी थी आग तेरे दर्दे-दिल में मीर ऐसी तो,
कि कहते ही सजन के रोबरू क़ासिद का मुँह आया।
है मीर जिगर टुकड़े हुआ दिल की तपिश से,
शायद कि मेरे जीव प' अब आन बनी है।
ग़ाफ़िल में रहा तुझ से निपट ताब जवानी,
ऐ उम्र गुज़िश्ता मैं तेरी क़द्र न जानी।
अचम्भा है अगर चुपका रहूँ मुझ पर अताब आवे,
अगर क़िस्सा कहूँ अपना तो सुनते उसको ख़्वाब आवे।

'इन्शा'

दिल में समा रहा है यूँ दाग़े-इश्क़ अपने,
जिस तरह कोई भौरा होवे कँवल में बैठा।

(पृष्ठ २)

बैठता है जब तुँदीला शेख़ आकर बज़्म में,
एक बड़ा मटका सा रहता है शिकम आगे धरा।

(पृष्ठ १४)

लिपट कर किशनजी से राधिकाजी यों लगीं कहने,
मिला है चाँद से ए लो! अँधेरे पाख का जोड़ा।
अपना दिले-शिगुफ़्ता तालाब का कँवल था,
अफ़सोस तूने ज़ालिम ऐसे कँवल को तोड़ा।

लेनी है निनरं दिल तो ग़ालिब तो आज ले चुक ,
पड़ जायगा वगरना फिर कल का इसका तोड़ा ।

(पृष्ठ २७).

इंशा य' ग़ज़ल मैंने पढ़ी जिस मकान पर ,
वहाँ से भरेभनूले उगे वाह के दरख़्त ।

(पृष्ठ ३६)

उधर तो गंगा इधर जमना बीच तिरबेनी ,
अजब तरह का है तीरथ पराग पानी पर ।

(पृष्ठ ६१)

कल तुझको देखते ही लजालू की तरह से ,
यक बारगी सिमट गई इस अजमन की बेल ।

(पृष्ठ ८२)

इंशा य' नाउरूसे-ग़ज़ल हाथ क्या लगी ,
गोया कि अब मढे चढी अपने सुख़न की बेल ।

(पृष्ठ ८३)

मिज़गाँ में गुथे हैं क़तराते-अश्क ख़ुशी के,
क्या आज बन्धनवार बँधे हैं व दरे-चश्म ।

(पृष्ठ ८३)

मस्त जारोबकशी करते हैं यहाँ पलकों से,
काबा कब पहुँचे है मैख़ाने की सुथराई को ।

(पृष्ठ १११)

राधका को चैन क्या आवे कन्हैयाजी बग़ैर,
वाक़ई काफ़ूर उड़ जावे अगर झिलझिल न हो ।

(पृष्ठ ११६)

चमकते चाँद के हैं गिर्द जिस तरह तारे ,
अजब मज़ा है तेरे मुखड़े पर पसीने का ।

(पृष्ठ १४०)

साँवलेपन पर ग़ज़ब है धज बसन्ती शाल की,
जी में है कह बैठिये अब 'जै कन्हैयालाल की।'
हैं वो जोगी नेहगिर अवधूत जिनके सामने,
बालका देवे-जनूँ वहशत-परी है बालकी।
क्यों न अंगारे उछाले फिर वो इंशा रात को,
है हमारी आह शागिर्द आगिया-बेताल को।

(पृष्ठ १६३)

ऐ अश्के-गर्म कर मेरे दिल का इलाज कुछ,
मशहूर है कि चोट को पानी से धारिये।

(पृष्ठ १७०)

य' कारख़ाना देखिये टुक आप ध्यान से,
बस मौन खींच जाइये यहाँ दम न मारिये।

(पृष्ठ १७६)

नये धानों की सी खेती की तरह से इन्शा,
डहडही और हरी हूँ तो भला तुझ को क्या।

(पृष्ठ १८८)

सैकड़ों आँखें कन्हैया बन के ग़ोता खा गईं,
क्योंकर इन्शा नाफ़ को तेरी न समझें ब्रह्मकुण्ड।

(पृष्ठ १६५)

इस पदमनी प' आँखों के भौंरों की भीड़ है,
होगी किसी परी में न इस तनतने की बास।

(पृष्ठ १६६)

बाम्हन के लड़के खोल के पोथी विचार तो,
मुझसी परी भी होगी कोई इन्द्रलोक में।

(पृष्ठ २०१)

हिन्दी कविता में फारसी-अरबी शब्द

उर्दू कविता में हिन्दी शब्दों के प्रयोग के नमूने आप देख चुके अब पुराने हिन्दी महाकवियों के काव्य में भी अरबी फारसी शब्दों के उदाहरण देखिये। उन्होंने किस उदारता और आत्मीयता से विदेशी शब्दों को अपने काव्य में स्थान दिया है। हिन्दी कवियों में कोई भी कवि ऐसा न मिलेगा, जिसकी कविता ऐसे प्रयोगों से अछूती हो, पर हम यहाँ सिर्फ सूर, तुलसी और बिहारी के काव्यों से ही कुछ नमूने चुनकर देते हैं। हमारे कथन की पुष्टि के लिये इतने ही प्रमाण पर्याप्त होंगेः—

सूरदास का एक पद

साँचो सो लिखधार कहावै।
काया ग्राम मसाहत करिकै, जमा बाँधि ठहरावै॥
मनमथ करै कैद अपने में, ज्ञान जहतिया लावै।
माँडि माँडि खरिहान क्रोध को, पोता भजन भरावै॥
बट्टा काटि कसूर मर्म को, फरद तलै लै डारै।
निश्चय एक असल पै राखै, टरै न कबहूँ टारै॥
करि अवारजा प्रेम प्रीति को, असल तहाँ खतियावै।
दूजी करै दूरि करि दाई, नेक न तामें आवै॥
मुलजिम जोरे ध्यान कुल्लका, हरि सौं तहँ लै राखे।
निर्भय रूपै लोभ छाँडि कै, सोई बारिज राखै॥
जमा खर्च नीके करि राखै, लेखा समुझि बतावै।
सूर आप गुजरान मुहासिब, लै जबाब पहुँचावै॥

ब्रजभाषा के मर्मज्ञ श्री वियोगी हरि जी ने, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिये सङ्कलित 'संक्षिप्त सूरसागर' में लिखा है :—

" सूरदास ने विशुद्ध ब्रजभाषा के साथ साथ फारसी शब्दों का भी अच्छा प्रयोग किया है। ...कुछ फारसी शब्द नीचे दिये जाते हैं, जिनका प्रयोग सूरसागर में हुआ है।"

वह शब्द यह हैं :—

मसाहत	नकीब	असल	साबिक जमा	स्याहा
मुसाहिब	सही	जवाब	बरामद	साफ
गुजरान	क़ैद	वासिलबाकी	लायक	माफ़
मुजमिल	जमा	मुहासबा	दामनगीर	निशान
मुहर्रिर	नौबत	दस्तक	ग़रीब	मुहकम
मुस्तौफी	शोर	फौज	बेहाल	सुलतान
दीवान	निवाज़	इत्यादि।		

श्री सूरदास जी ब्रजभाषा के 'अहले जबान' थे, अपने ठेठ तद्भव और तत्सम शब्दों की उनके पास कमी न थी। वह चाहते तो इन विदेशी शब्दों को अपनी कविता की वाटिका के पास न फटकने देते, पर वह तो परम उदार वैष्णव थे, शरणागत अङ्गीकृत का परित्याग कैसे करते?

तुलसीदास

गई बहोरी गरीबनिवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥
नाम अनेक गरीबनिवाजे। लोक वेद वर विरद विराजे॥
लोकहु वेद सुसाहिब-रीती। विनय सुनत पहिचानत प्रीती॥
गनी गरीब ग्राम नर नागर। पंडित मूढ मलीन उजागर॥
समुझि सहमि मोहि अपडर अपने—
साहब सील निधान।

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। फराक=फ़राख़, चौड़े।

इत्यादि अनेक शब्द फ़ारसी अरबी के तुलसीदास जी के समय

हिन्दी में मिल गये थे। गोस्वामी जी ने ऐसे शब्दों का वहिष्कार नहीं किया उन्हें अगीकार कर लिया। ऊपर के शब्दों मे सुसाहिब-रीति पर ध्यान देने योग्य है, इसमे अरबी 'साहिब' शब्द के साथ सस्कृत का 'सु' उपसर्ग ही नहीं जोड़ा, 'रीति' के साथ उसका समास भी किया है।

बिहारी की सतसई

लहि जोबन आमिल जोर	लखि लाखन की फौज
बढ़ौ इजाफा कीन	कोऊ लाख हजार
किबलनुमा लों डीठ	परी परी सी टूट
उपजी बड़ी बलाइ	ड्योढ़ी लसत निशान
आगे कौन हवाल	ने ती सूमति जार
नागर नरन सिकार	दीनेंहू चसमा चखन
दई दई सु कबूल	लिये लोभ चस्मा चखन
अब मुँह आहि न आह	खेल प्रेम चौगान
कौन गरीबनिवाजिबौ	पर्यो रहौं दरबार
ए बदरा बदराह	जरी कोरे गोरे बदन
दिपति ताफता रंग	जो गुनही तो राखिये
राख्यौ हियौ हमाम	जिन आदर तो आब
खूनी फिरे खुस्याल	मनो गुलीबद लाल की
दरपन के से मोरचे	*कहलाने एकत बसत अहि
	मयूर मृग बाघ

*कहलाने 'कहलाना' का बहुबचन और अहि मयूर मृग बाघ का विशेषण है। 'काहिल' शब्द अरबी का है। इसका अथ सुस्त या अकर्मण्य है; इसी से काहिली और उससे 'कहलाना' बना है 'आज़ाद' ने 'आबे-हयात' में लिखा है—'काहिली से कहलाना।' इसके उदाहरण

चटत दग-दाग
लिखत बैठ जाकी सबी
गहि गहि गरब गरूर
खरे अदब इठला हटी
कालबूत दूती बिना
नाजुक कमला बाल
अपनी गरजन बोलियत
भूषन पायंदाज

गुल्लाला रँग नैन
बादि मचावत सोर
लखि बेनी के दाग
सपर [1]परेई संग
बचै न बड़ी सबील हू
फतै तिहारे हात
मनमथ नेजा नोक सी

हिन्दी के इस विशुद्धतावाद के युग मे भी हिन्दी के महाकवि 'शङ्कर' ने अपनी रचना मे अरबी फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किस ख़ूबसूरती से किया है, सो सुनिये :—

"देखिये इमारतें मज़ार दुनिया के सारे,
रोज़े ने कहो तो शान किसकी न रद् की।
हीरा पुखराज मोतियों की दर दूर कर,
'शङ्कर' के शैल की भी सूरत ज़रद की॥

'मजबूर' का यह शेर इस टिप्पणी के साथ दिया है। देखना किस ख़ूबसूरती से फ़ेलमश्तक को बिठाया है—

बातें देख ज़माने की जो बात से भी कहलाता है,
ख़ातिर से सब यारों की 'मजबूर' ग़ज़ल कहलाता है।"

बिहारी ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। बिहारी के कुछ टीकाकारों ने 'कहलाने' का पदच्छेद करके "किसलिये" अर्थ किया है; मालूम नहीं उन्होंने यह द्राविड़ी प्राणायाम किस लिये किया है ?

[1]इसी तरह 'सपर' (सफर) का हाल है। किसी ने पर-सहित और किसी ने सपर निर्वाह अर्थ किया है।

शौकत दिखाती जमुना के तीर शाहजहाँ,
आगरे ने आबरू हरम की गरद की।
धन्य मुमताज़ बेगमों की सरताज,
तेरे नूर की नुमायश है चाँदनी शरद की॥

❀ ❀ ❀

लैला के शुतर का न जरस बजेगा यहाँ,
ख़ाक न उड़ेगी कहीं मजनूँ के बन की।
शीरीं कलाम की भी तलख़ी चखोगे नहीं,
टाँकी न पहाड़ पै चलेगी कोहकन की॥
कामकन्दला के नाच गाने की लताफ़त में,
गाँठ न खुलेगी माधवानल के मन की।
कञ्चन की चाह छोड़ कञ्चनी अकिञ्चन को,
'शङ्कर' दिखावेगी लगावट लगन की॥"

❀ ❀ ❀

"बाग़ की बहार देखी मौसिमे-बहार में तो,
दिले-अन्दलीब को रिझाया गुलेतर से।
हाय चकराते रहे आसमाँ के चक्कर में,
तो भी तौ लगी ही रही माह की महर से॥
आतिशे-मुसीबत ने दूर की कदूरत को,
बात की न बात मिली लज़्ज़ते-शकर से।
'शङ्कर' नतीजा इस हाल का यही है बस,
सच्ची आशिक़ी में नफ़ा होता है ज़रर से॥
—पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा 'शङ्कर'

शब्दों के प्रयोग में हिन्दी के वर्तमान कवि लेखक बड़ी अतिरिक्त उदारता से काम लेते रहे हैं। भारतेन्दु बाबू श्री हरिश्चन्द्र से लेकर

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी तक हिन्दी के सभी सुधारक और सुलेखक फारसी आदि भाषाओं के शब्दों का व्यवहार अपनी हिन्दी रचना में बराबर करते आ रहे हैं। हिन्दी के विज्ञ पाठकों से यह बात छिपी नहीं है, इसलिये इसके उदाहरण देना यहाँ अनावश्यक है।

उर्दू-ए-मुअल्ला के कुछ कठमुल्ला हिमायतियों की तरह हिन्दी में भी विशुद्धतावादियों का एक सम्प्रदाय है, जो फारसी अरबी शब्दों के प्रयोग पर हिन्दी-भाषा के शील-विनाश की दुहाई देकर 'अब्रह्मण्यम्' 'शान्तपापम्' 'प्रतिहतम् मङ्गलम' की पुकार मचाता रहता है—ऐसे शब्दों के प्रयोग पर प्रतिवाद और आपत्ति करता है, मानो गिरी-नदी के उत्तुङ्ग-तरङ्ग समृद्धवेग प्रबल प्रवाह को अपने विरोधरूपी बालुका के बाँध से रोकना चाहता है। परन्तु परम सन्तोष का विषय है कि श्रीमती काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के हिन्दी शब्द-सागर ने इस सम्प्रदाय के प्रकृति के प्रतिकूल प्रयत्न पर पानी फेर दिया है, अर्थात् अरबी फारसी के हजारों शब्दों को अपने हिन्दी शब्दसागर मे सम्मिलित करके प्रकारान्तर से इस बात की व्यवस्था दे दी है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग हिन्दी में निन्दनीय या निषिद्ध नहीं है। क्योंकि हिन्दी भाषा के कोप में ऐसे शब्दों को स्थान मिलने का यही तो अर्थ है कि वे शब्द भी अब हिन्दी ही के हैं। हिन्दी के मन्दिर में अप्रतिहत प्रवेश का इन्हें वैसा ही अधिकार है जैसा हिन्दी के ठेठ तद्भव या विशुद्ध तत्सम शब्दो को है, अन्यथा यह शब्द हिन्दी-शब्द-सागर में, जो हिन्दी भाषा का बृहत्-काय कोष है; कैसे स्थान पा सकते थे ? (क्योंकि कोषकारों ने या उसके विद्वान् सम्पादक ने उन शब्दों का इस प्रकार आत्मसात् कर लेने के कारणान्तर का कहीं निर्देश नहीं किया है।)

हिन्दी शब्दसागर से कुछ ऐसे शब्द यहाँ उद्धृत करते हैं, जो उस बड़े सागर के कतिपय बिन्दुओं के समान हैं। यह समस्त शब्द सागर ऐसे ही शब्द-बिन्दुओं से भरा पड़ा है। 'फरहगे-आसफिया' मे ७५८४

अरबी के और ६०४१ फारसी के उन शब्दों की तालिका दी है, जो उर्दू शब्दो मे शामिल हो गये हैं। हम समझते हैं, फरहग के इन शब्दो में से शायद ही कोई शब्द बचने पाया होगा, जो हिन्दी शब्दसागर के विशाल कलेवर मे न समा गया हो। हिन्दीवाले अपनी मातृभाषा हिन्दी के शब्द-भण्डार की इस आशातीत वृद्धि और पूर्ति पर समुचित गर्व कर सकते हैं। इस शुभ और प्रशसनीय प्रयत्न के लिये हिन्दी शब्दसागर के विधातृगण हिन्दी-प्रेमियो के हार्दिक धन्यवाद बधाई और प्रशसा के पात्र हैं।

शब्द-तालिका

असालत	आरज़ा
असालतन्	आज़ार
असर	आजिज़
असासुल् बैत	आयद
असीसा	आमोख्ता
असा	आमेज़िश
आवेज़ा	आमालनामा
आवारागर्द	आफत
आवाज़	आफताब
आलीजाह	आज़ुर्दगी
आलीशान	आज़ुर्दा
आरास्ता	आज़मूदा
आराइश	अहद
आराजी	अहदनामा
आरज़ू	आसूदा
आरज़ूमन्द	आसूदगी

आक़बत
आसान
आसाइश
आसमान
इंतक़ाल
इंतज़ाम
इतज़ार
इन्तहा
इस्तेमाल
इस्तेदाद
इख़फ़ाय वारदात
इख़राज
इख़लास
इख़्तियार
इख़्तलाफ़
इजमाल
इजमाली
इजराय
इजलास
इज़हार
इजाज़त
इज़ाफ़ा
इज़ार
इज़ारबंद
इज़ारदार
इजारा
इकरान
इक़रार
इज़ाला हैसियत उर्फ़ी
इज़्ज़त
इज़्ज़तदार
इतमाम
इतमीनान
इतलाक़
इद्दत
इताअत
इत्तफ़ाक़
इत्तफ़ाक़न्
इत्तफ़ाक़िया
इत्तिहाम
इनफ़िकाक
इन्सान
इन्सानियत
इनाम
इनायत
ईज़ा
दरख़्त
दरकिनार
दरख़ास्त
दरगाह
दरगुज़र

सितारे हिन्द और भारतेन्दु

वर्तमान हिन्दी गद्य के सुधारकों में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र अगुआ थे। हिन्दी को हिन्दुस्तानी का रूप देने की कोशिश राजा साहब ही ने की थी। पहले राजा साहब और भारतेन्दु दोनों एक ही ढँग की भाषा लिखते थे, फिर दोनों की प्रणाली में भेद हो गया। राजा साहब बोलचाल की ओर झुके और झुकते झुकते उर्दू के रंग में आ गये, अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग अधिकता से करने लगे। इससे दोनों में मतभेद हो गया, जिसने आगे चलकर विरोध का रूप धारण कर लिया। राजा साहब ने ऐसा क्यों किया, इसका भेद फ्रेडरिक पिकाट साहब के उस पत्र से मालूम हो सकता है जो उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी को, उनके किसी पत्र के उत्तर में, लिखा था। उस पत्र का कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना उचित होगा :—

१ जनवरी १८८४

"प्रिया बन्धो

आपसे एक पत्र मिलना मुझे परम सुख है। ... राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है। बीस बरस हुए उसने सोचा कि अँगरेज़ी साहबों को कैसी कैसी बातें अच्छी लगती हैं। उन सब बातों का प्रचलित करना चतुर लोगों का परम धर्म है। इसलिये बड़े चाव से उसने काव्य को और अपनी हिन्दी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया। उसके उपरान्त उसने देखा कि हिन्दी भाषा साल पर साल पूज्यतर होती जाती थी तब उसने उर्दू और हिन्दी के परस्पर मिलाने का उद्योग किया, बहुतेरे अँगरेज़ लोग जानते हैं कि उन दो भाषाओं का मिश्रित होना सब से श्रेष्ठ-बात होगी। क्योंकि वैसी संयुक्ता से सारे हिन्दुस्तान केलिये एक ही भाषा निकलेगी। मेरी

समझ में वैसा बोध मूर्खता की बात है। तो भी इसमें राजा शिवप्रसाद की मति ठीक है कि इन दिनों गद्यरचना काव्य-रचना से उत्तम है। क्योंकि गद्य रचना से कृषि शिल्प कर्म व्यापार सेतु बनाना घर बनाना धातु भूमि से निकालना इत्यादि काम का बोध हो सके। इसके स्थान पर काव्यरचना से केवल कल्पनाशक्ति की उत्कृष्टता हो सके। अंग्रेज़ी लोग करने पर अपने हृदय लगाते हैं इससे यदि आप काव्य को छोड़कर किसी क्रिया सम्बन्धी प्रसङ्ग मे लगें, सरल हिन्दी गद्यरचना पर अपना मन लगावें तो शिवप्रसाद के पद से आप आगे बढेंगे। इन बातों पर भली भाँति सोचियेगा।

आपका परम मित्र

फ्रेडरिक पिकाट"

बाबू हरिश्चन्द्र विशुद्ध हिन्दी लिखनेवालों में आदर्श माने गये हैं।* फिर भी उन्होंने हिन्दी मे प्रचलित अरबी फारसी शब्दों का बायकाट नहीं किया। वह अपने लेखों मे ऐसे शब्दों का ही प्रयोग नहीं करते थे, उर्दू के पद्य भी उद्धृत कर देते थे। भारतेन्दु उर्दू के भी बहुत अच्छे कवि थे। 'रसा' तखल्लुस था उनका एक शेर है:—

"तौसने-उम्रे-रवाँ यक दम नहीं रुकता 'रसा',
हर नफ़स गोया इसे इक ताज़ियाना हो गया।"

---

*अपने २० मार्च सन् १८८३ ई० के पत्र मे पिकांट साहब भारतेन्दुजी की भाषा की सुबोधता के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"अँगरेज़ी विद्यार्थियों को समझ में निपट खेद की बात है कि हिन्दू ग्रन्थकर्ता अपने ग्रन्थों के बनाने में ऐसी सामान्य हिन्दी बातें काम में नहीं लाते जैसे कि वे अपने ही घरों में दिन दिन बोला करते हैं। इसके स्थान बहुतेरे ग्रन्थकर्ता इतना कुछ संस्कृत हिन्दी से मिला करते हैं कि हिन्दी का प्राय संस्कृत ही हो जाता। मै अत्यन्त सुख से देखता हूँ कि आपके ग्रन्थों पर वैसा दोष लगाना असम्भव है।"

वह हिन्दी मे उर्दू का गद्य भी लिखते थे। इसका नमूना "ख़ुशी" पर वह लेख है, जिसका कुछ अंश आगे उद्धृत है :—

'ख़ुशी'—"हस्ब दिलख़्वाह आसूदगी को 'ख़ुशी' कह सकते हैं यौने जो हमारे दिल की ख़्वाहिश हो, वह कोशिश करने से या इत्तिफ़ाक़िया बग़ैर कोशिश किये बर आवे तो हमको ख़ुशी हासिल होती है। ख़ुशी जिन्दगी के फल को कहते हैं, अगर ख़ुशी नहीं है तो ज़िन्दगी हराम है। क्योंकि जहाँ तक ख़याल किया जाता है मालूम होता है कि इस दुनिया में भी तमाम ज़िन्दगी का नतीजा ख़ुशी है।

इसी ख़ुशी के हम तीन दर्जे क़ायम कर सकते हैं याने आराम, ख़ुशी और लुत्फ़; आराम वह हालत है जिसमे तकलीफ़ का एक हिस्सा या बिल्कुल तकलीफ़ रफ़ा हो जावे। ख़ुशी वह हालत है जिसमें आराम का हिस्सा तकलीफ़ की मिक़दार से ज़्यादाः हो जाय। और लुत्फ़ वह हालत है जिसमें तकलीफ़ का नाम भी न बाक़ी रहे।

ख़ुशी तीन किस्मों मे बॅटी है याने दीनी ख़ुशी, दुनियवी ख़ुशी और ग़लत ख़ुशी।

दीनी ख़ुशी अपने अपने मज़हब के उक़दे (अक़ीदे) मुताबिक कुछ कुछ अलग है, मगर नतीजा सब का एक ही है याने इतात दुनियावी से छूट कर हमेशाः के वास्ते परमेश्वर की क़ुर्बत मयस्सर होनी ही असली ख़ुशी है। हम लोगों मे परमेश्वर का नाम सत् चित् आनन्द है और लोगों के अनेक अक़ीदे के मुताबिक परमेश्वर का नाम रूप सब बिल्कुल लतीफ़ है इसी से उसकी याद मे लुत्फ़ हासिल होता है। उपनिषद् मे एक जगह सब की ख़ुशी का मुक़ाबिला किया है। वह लिखते हैं कि ख़ुशी ज़िन्दगी का एक जुज़्रे आज़म है और दुनिया मे जितने मख़्लूक़ात हैं सब ख़ुशी ही के वास्ते मख़्लूक हैं। इसी सब ख़िलकत में जानदारों की बनावट और लियाक़त के मुताबिक ख़ुशी बॅटी हुई है, कीड़ा सिर्फ़ इस बात मे ख़ुश होता है कि एक पत्ते पर से

दूसरे पत्ते पर जाय, चिड़ियों की ख़ुशी का दर्जा इससे कुछ बड़ा है याने इधर उधर परवाज़ करना बोलना वग़ैरः। इसी तरह आख़ीर में आदमी की ख़ुशी बनिस्बत और जानवरों के बहुत बढ़ी चढी है, आदमियों में भी बनिस्बत बेवकूफ़ों के समझदारों की ख़ुशी का दर्जः ऊँचा है। आदमियों की ख़ुशी से देवताओं की ख़ुशी बहुत ज़्यादः हैं। इस लंबी चौड़ी तक़रीर का ख़ुलासा उन्होंने यह निकाला है कि सब से ज़्यादः और लतीफ परमेश्वर है उसमें कितना लुत्फ़ और ख़ुशी है जो हम लोग नहीं जान सकते। इसी से अगर हम लोगों को ख़ुशी और लुत्फ की तलाश है तो हम लोगों को उसी का भजन करना चाहिए।

❀ ❀ ❀ ❀

अक्सर मौत शदीद के वक्त लोग ख़ुश पाये गये हैं, इसका सबब यह है कि जब आदमी की हालत बिल्कुल नाउमैदी को पहुँच जाती है तो उस तक़लीफ का ख़ौफ बाक़ी नहीं रहता, मसलन् जब तक आदमी को ज़ीस्त की उमैद है, उसको मौत का ख़ौफ रहेगा मगर जिस वक्त कि ज़ीस्त की उमैद बिल्कुल मुनक़तअ् हो गई फिर उसको किस बात का ख़ौफ रहा। यही सबब है कि हिन्दू शास्त्रकारों ने ख़ौफ और रंज की अस्ली हालत को भी एक रस माना है और ज़ाहिर है कि ट्राजिडी यानी ऐसे तमाशे जिनका आख़िर हिस्सा बिल्कुल रंज से भरा हो देखने मे एक अजीब क़िस्म का लुत्फ देती है बल्कि ट्राजिडी में जैसे उम्दा किताबें लिखी गई हैं वैसे कामेडी में नहीं। जिस तरह रंज की आख़री हालत ख़ुशी से बदल जाती है उसी तरह ख़ुशी की भी आख़री हालत रंज से बदल जाती है और इसी से ज़्यादः ख़ुशी के वक्त लोग शिद्दत से रोते हुए पाये गये हैं। ख़ुलासा कलाम यह कि इस क़िस्म की बहुत सी ख़ुशियाँ दुनिया में हैं जिनको हम ख़ालिस ख़ुशी नहीं कह सकते।"

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'ख़ुशी'

भारतेन्दु का यह उर्दू गद्य राजा शिवप्रसाद के हिन्दुस्तानी के उस गद्य से, जो उन्होंने 'इतिहास तिमिरनाशक' मे बरता है, (जिसका नमूना आगे उद्धृत किया जायगा) कहीं कठिन है। 'ख़ुशी' की इबारत अच्छी ख़ासी उर्दू है, इसे नागराक्षरों में लिखा हुआ हिन्दी के उर्दू भेद का नमूना कह सकते हैं। इससे यह भी मालूम होता है भारतेन्दु हिन्दी के उन्नायक और विशुद्धता के समर्थक होते हुए भी उर्दू शैली मे लिखा हुआ समझते थे, ज़रूरत पड़ने पर उस रंग में भी लिखते थे और इसे हिन्दी-हित के विरुद्ध नहीं समझते थे। जैसा कि आजकल बहुत से विशुद्धतावादी हिन्दी लेखक हिन्दी में अरबी फ़ारसी शब्दों का प्रयोग देखकर उसे हिन्दी की शैली और शील के विरुद्ध समझते हैं।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द कई तरह की भाषा लिखते थे—उन्होंने अपने गुटके मे ठेठ हिन्दी, मानव धर्मसार मे शुद्ध हिन्दी तथा छोटे भूगोल हस्तामलक मे खिचड़ी हिन्दी (यानी हिन्दुस्तानी) और इतिहास तिमिरनाशक मे उर्दू लिखी है। उनकी अन्तिम भाषा (हिन्दुस्तानी) का नमूना :—

"क्या ऐसे भी आदमी हैं जो अपने बाप दादा और पुरखाओं का हाल सुनना न चाहें, और उनके ज़माने में लोगों का चालचलन बेवहार बनज बेवपार और राज दर्बार किस ढब बर्त्ता जाता था और देश की क्या दशा थी कब-कब किस-किस तरह कौन-कौन से राजा बादशाहों के हाथ आये किस किसने कैसा-कैसा इन पर ज़ोर ज़ुल्म जताया और कौन-कौन से ज़माने के फेर फार कहाँ-कहाँ इन्हें झेलने पड़े कि जिनसे ये कुछ के कुछ बन गये इन सब बातों के जानने की ख़्वाहिश न करें। बाप दादा और पुरखा तो क्या हम इतिहास मे उस वक्त से लेकर जिससे आगे किसी को कुछ मालूम नहीं आज तक अपने देश का हाल लिखने का मंसूबा रखते हैं ज़रा दिल दो। और कान धरकर सुनो।

जानना चाहिए कि हिन्दुस्तान मे सदा से हिन्दू का राज सूर्यवशी और चन्द्रवशी घरानों मे चला आता है पहला सूर्यवशी राजा वैवस्वत मनु का बेटा इक्ष्वाकु था। राजधानी उसकी अयोध्या। उससे पचपन पीढ़ी पीछे उस वश के सिरताज रामचन्द्र हुए। बाप का हुक्म मान चौदह बरस बन में रहे। इक्ष्वाकु की बेटी इला चन्द्र के बेटे बुध को ब्याही थी इसी का बेटा पुरूरवा प्रयाग के साम्हने प्रतिष्ठानपुर में जिसे अब झूसी कहते हैं पहला चन्द्रवश राजा हुआ। महाभारत यानी कुरुक्षेत्र की भारी लड़ाई मे अपने चचेरे भाई हस्तिनापुर के राजा दुर्योधन को मारने पर जब महाराज युधिष्ठिर जो पुराणों के मत बमूजिब पुरूरवा मे पैंतालिसवीं पीढी मे पैदा हुए थे अपने भाइयों के साथ इन्द्रप्रस्थ यानी दिल्ली का राज छोड़कर हिमालय को चले गये उनके भाई अर्जुन का पोना परीक्षित गद्दी पर बैठा और परीक्षित से लेकर छब्बीस पीढ़ी तक उसी क घराने में राज रहा।"*

राजा साहब का हिन्दी की लिखावट या शैली के सम्बन्ध मे क्या मत था, यह उनके इस कथन से जाना जा सकता है :—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम-फहम व ख़ास-पसन्द हों, अर्थात् जिसको ज़्यादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े लिखे आलिम फाज़िल पण्डित, विद्वान् की बोलचाल मे छोड़े नहीं गए हैं; और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हरगिज़ ग़ैर मुल्क के शब्द काम मे लाने चाहिएँ और न सस्कृत की टकसाल क़ाइम करके नए नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएँ। जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की ज़रूरत न साबित हो जाय अर्थात् वह कि उस अर्थका कोई शब्द हमारी ज़बान में नहीं है, या जो है अच्छा नहीं है, या कविताई

---

*इतिहास तिमिरनाशक, पहला हिस्सा, पृष्ठ १, २।

की ज़रूरत, या इल्मी ज़रूरत, या कोई और खास ज़रूरत साबित हो जाय।''

❀ ❀ ❀

''एक प्रसग मे बाबू हरिश्चन्द्र जी ने राजा साहब से प्रश्न किया कि 'आप किस प्रणाली की भाषा पसन्द करते हैं?' राजा साहब ने छूटते ही कहा—'जो सरल सब के समझने योग्य हो।' फिर भारतेन्दु जी ने पूछा 'आप मेरी प्रणाली को कैसी समझते हैं?' राजा साहब बोले 'उत्तम' यदि मैं भी नाटक लिखने बैठूंगा तो इसी प्रणाली का अनुसरण करूँगा, क्योंकि विषय के भेद से भाषा के लेखन-प्रणाली का भेद है। किन्तु आप का कटाक्ष हमारे अरबी फ़ारसी के शब्दों के प्रयोग पर है; अस्तु, पर आप भी सर्वांश में नहीं तो किसी अश मे इस दोष से अवश्य दूषित हैं।' फिर और और प्रसग चल पड़े और जब राजा साहब विदा हुए तो उनके पीछे भारतेन्दु जी ने उसी मण्डली के सम्मुख मुक्तकण्ठ से राजा साहब की प्रशंसा करके कहा कि 'चाहे इस विषय में औरों ने कुछ भी सोचा हो, परन्तु वास्तव में राजा शिवप्रसाद हिन्दी के स्तम्भस्वरूप हैं।'❀

राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दु जी के इस सवाद से यह नतीजा निकलता है कि राजा साहब यद्यपि अपनी भाषा में अरबी फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बेखटके करते थे, फिर भी हरिश्चन्द्र जी ने उन्हें भाषा का शील बिगाड़ने वाला नहीं प्रत्युत हिन्दी का स्तम्भस्वरूप कहकर उनके प्रति आदर ही प्रकट किया है, और इस प्रकार भाषा के सम्बन्ध में अपनी उदारता और समन्वयवादिता का परिचय दिया है। दो भिन्न शैलियों के प्रचारक और समर्थक होते हुए भी यह दोनों महानुभाव हिन्दी भाषा के स्तम्भस्वरूप थे।

❀'सरस्वती,' भाग १, सख्या ४, अप्रैल, सन् १९०० ई०।

हिन्दुस्तानी कविता

आम बोलचाल या सर्वसाधारण की भाषा कैसी होनी चाहिये, हिन्दुस्तानी ऐकेडमी जिस तरह की भाषा का प्रचार करना चाहती है, उसका नमूना 'ज़फ़र,' 'नज़ीर,' और 'हाली' की निम्नोक्त कविताओं मे मिलता है। यह तीनों महाकवि अरबी फारसी के विद्वान् थे, कठिन और दुर्बोध भाषा में कविता करना उनके लिये कुछ भी कठिन न था, फिर भी उन्होंने कैसी सरल, सरस और सुघड भाषा में यह कविताएँ लिखी हैं। जो लोग दुर्बोध भाषा और शैली के साँचे में कविता को ढालकर उसे जटिल पहेली बना रहे हैं, वह 'ज़फर' की इस पहेली से शिक्षा ग्रहण करें। 'नज़ीर' की कविता, जैसा कि हम पीछे कह आये हैं, भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से खालिस हिन्दुस्तानी कही जा सकती है। 'हाली' उर्दू शाइरी को नया रूप देनेवाले क्रान्तिकारी कवि हैं, और मौलाना अब्दुलहक़ के कथनानुसार "हाली" का कलाम उर्दू मे क्लासिकल दर्जा रखता है। वह एक ऐसी तारीख़ी चीज़ पैदा हो गई है, जो हमेशा जिन्दा रहनेवाली है। असल शय (वस्तु), जो दूसरी जगह ढूँढने से नहीं मिलती, वह दर्द है, जो उनके (हाली के) कलाम में पाया जाता है। मौलाना (हाली) जब क़ौमों के अरूज व ज़वाल (उत्थानपतन) और मुसीबतजदों (आपद्ग्रस्तों) की बिपता बयान करने पर आते हैं, तो दुनिया का कोई शाइर उनका मुक़ाबिला नहीं कर सकता।......इस ज़माने मे मौलवी 'हाली' एक ऐसे शाइर हुए हैं, जिन्होंने उर्दू में हिन्दी की चाशनी देकर कलाम में शीरीनी (मधुरता) पैदा कर दी है।"

मौलाना अब्दुलहक़ साहब की सम्मति की सचाई 'हाली' की 'बरखा रुत' और 'मनाजाते बेवा' के आगे प्रकाशित, कतिपय पदों से साबित होती है।

सुनरी सहेली मारी पहेली,
बाबल-घर में रही अलबेली।
मात पिता ने लाड़ से पाला,
समझा मुझे सब घर का उजाला,
एक बहन थी एक बहनेली ॥१॥

यों ही बहुत दिनै गुड़िया में खेला,
कभी अकेली कभी दुकेली।
जिससे कहा चल तमाशा दिखा ला,
उसने उठाकर गोद में ले ली ॥२॥

कुछ-कुछ मोहि समझ जो आई,
एक जा ठहरी मोरी सगाई।
आवन लागे बाम्हन नाई,
कोई ले रुपय्या कोई ले धेली ॥३॥

ब्याह का मोरे समाँ जब आया,
तेल चढ़ाया मँढ़ा छवाया।
सालू सूहा सभी पिन्हाया,
महदी से रँग दिये हाथ-हथेली ॥४॥

सासरे के लोग आये जो मेरे,
ढोल दमामे बजे घनेरे।
सुभ घड़ी सुभ दिन हुए जो फेरे,
सैयों ने मोहे साथ मे ले ली ॥५॥

आये बराती सब रस रँग के,
लोग कुटम के सब हँस-हँस के।
जावत थे सब घर से मिकले,
और के घर में जाय धकेली ॥६॥

लेके चले पी साथ जब अपने,
रोवन लागे फिर सब अपने।
कहा कि तू नाहिं बस की अपने,
जा बच्ची! तेरा दाता है बेली ॥७॥

सखी! पिया के साथ गई मै,
ऐसी गई फिर वहाँ रही मैं।
किससे कहूँ दुख हाय दई! मै,
सय्याँ ने मोरी बाँह गहेली ॥८॥

सास जो चाहे सोई सुनावे,
ननद भी बैठी बात बनावे।
क्या करूँ कुछ बन नहि आवे,
जैसी पड़ी मै वैसी ही झेली ॥९॥

जिया बियाकुल रोवत अँखियाँ,
कहाँ गँईं सब संग की सखियाँ।
शौक़ रँग गुड़ियाँ ताक पै रखियाँ,
ना वो घर है ना वो हवेली ॥१०॥ (ज़फ़र)

यह दर्दभरी पहेली देहली के आख़िरी बादशाह बहादुर शाह 'ज़फर' की कही हुई है; विवाह में लड़की के रुख़सत होते वक्त गाई जाती है। इसमे बड़ी सादगी और सफाई से, सरल और सुन्दर भाषा मे, एक ख़ास हालत का बयान किया है। नक़शा सा खींच दिया है। इससे उस वक्त की बोलचाल और रस्मोरिवाज का भी पता चलता है।

नज़ीर की कविता और भाषा का नमूना

बंजारा नामा

टुक हिरसोहवा को छोड़ मियाँ मत देस बिदेस फिरे मारा,
क़ज़्ज़ाक़ अजल का लूटे है दिन रात बजाकर नक्कारा।

क्या बधिया भैंसा बैल शुतर क्या गौनें पल्ला सिरभारा,
क्या गेहूँ चाँवल मोठ मटर क्या आग धुँआँ क्या अँगारा।
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बजारा॥

❀ ❀ ❀

जब चलते चलते रस्ते में ये गौन तेरी ढल जावेगी,
इक बधिया तेरी मिट्टी पर फिर घास न चरने पावेगी।
ये खेप जो तू ने लादी है सब हिस्सों में बट जावेगी,
धी पूत जँवाई बेटा क्या बजारिन पास न आवेगी।
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बंजारा॥

❀ ❀ ❀

जब मर्ग फिरा कर चाबुक को ये बैल बदन का हाँकेगा,
कोई नाज समेटेगा तेरा कोई गौन सिये और टाँकेगा।
हो ढेर. अकेला जंगल मे तू ख़ाक लहद की फाँकेगा,
इस जंगल में फिर आह 'नज़ीर' इक भुनगा आन न झाँकेगा।
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बजारा॥

❀ ❀ ❀

आदमी नामा

"दुनिया में बादशा है सो है वो भी आदमी,
और मुफ़लिसो गदा है सो है वो भी आदमी;
ज़रदार बेनवा है सो है वो भी आदमी,
नेमत जो खा रहा है सो है वो भी आदमी,
टुकड़े जो माँगता है सो है वो भी आदमी।

❀ ❀ ❀

फ़क़ीरों की सदा

बटमार अजल का आ पहुँचा टुक इसको देख डरो बाबा,
अब अश्क बहाओ आँखों से और आहें सर्द भरो बाबा।
दिल हाथ उठा इस जीने से बेबस मन मार मरो बाबा,
जब बाप की ख़ातिर रोते थे अब अपनी ख़ातिर रो बाबा।
तन सूखा कुबड़ी पीठ हुई घोड़े पै ज़ीन धरो बाबा,
अब मौत नक़ारा बाज चुका चलने की फ़िक्र करो बाबा।

❀ ❀ ❀

सर काँपा चाँदी बाल हुए मुँह फैला पलकें आन झुकीं
क़द टेढ़ा कान हुए बहरे और आँखें भी चुँधियाय गईं।
सुख नींद गई और भूक घटी दिल सुस्त हुआ आवाज़ नहीं,
जो होनी थी सो हो गुज़री अब चलने में कुछ देर नहीं।
तन सूखा कुबड़ी पीठ हुई घोड़े पर ज़ीन धरो बाबा,
अब मौत नकारा बाज चुका चलने की फ़िक्र करो बाबा।

❀ ❀ ❀

घर बार रुपये और पैसे में मत दिल को तुम खुरसन्द करो,
या गोर बनाओ जंगल में या जमना पर आनन्द करो।
मौत आन लताड़ेगी आख़िर कुछ मकर करो कुछ फन्द करो,
बस खूब तमाशा देख चुके अब आँखें अपनी बन्द करो।
तन सूखा कुबड़ी पीठ हुई घोड़े पर ज़ीन धरो बाबा,
अब मौत नक़ारा बाज चुका चलने की फ़िक्र करो बाबा।

❀ ❀ ❀

कलजुग

दुनिया अजब बाज़ार है कुछ जिस याँ की सात (थ) ले,
नेकी का बदला नेक है बद से बदी की बात ले।

मेवा खिला मेवा मिले फलफूल दे फल पात ले,
आराम दे आराम ले दुख दर्द दे आफ़ात ले।
कलजुग नहीं करजुग है ये याँ दिन को दे और रात ले,
क्या ख़ूब सौदा नक़्द है इस हाथ दे उस हाथ ले।

❀ ❀ ❀

काँटा किसी के मत लगा गर मिस्ले-गुल फूला है तू,
वो तेरे हक़ में ज़हर है किस बात पर फूला है तू।
मत आग में डाल और को फिर घाँस का फूला है तू,
सुन रख ये नुकता बेख़बर किस बात पर फूला है तू।
कलजुग नहीं करजुग है ये याँ दिन को दे और रात ले,
क्या ख़ूब सौदा नक़्द है इस हाथ दे उस हाथ ले।

❀ ❀ ❀

शोख़ी शरारत मक्रोफ़न सबका बिसेखा है यहाँ,
जो जो दिखाया और को वो आप देखा है यहाँ।
खोटी खरी जो कुछ कि है तिसका परेखा है यहाँ,
जौ जौ पड़ा तुलता है दिल तिल तिल का लेखा है यहाँ।
कलजुग नहीं करजुग है ये याँ दिन को दे और रात ले,
क्या ख़ूब सौदा नक़्द है इस हाथ दे उस हाथ ले।"

❀ ❀ ❀

नानकशाह गुरू

हैं कहते नानकशाह जिन्हें वो पूरे हैं आगाह गुरू,
वो कामिल रहबर हैं जग में यों रोशन जैसे माह गुरू।
मक़्सूद, मुराद, उमीद सभी बरलाते हैं दिलख़्वाह गुरू,
नित लुत्फ़ो करम से करते हैं हम लोगों का निरबाह गुरू।

इस बख़्शिश के इस अज़मत के हैं बाबा नानकशाह गुरू,
सब सीस नवा अरदास करो और हरदम बोलो वाह गुरू।

❀ ❀ ❀

बांसरी

जब मुरलीधर ने मुरली को अपनी अधर धरी,
क्या क्या परेम मीत भरी इसमें धुन भरी।
लय इसमें राधे राधे की हरदम भरी खरी,
लहराई धुन जो उसकी इधर और उधर ज़री।
सब सुनने वाले कह उठे जै जै हरी हरी,
ऐसी बजाई किशन् कन्हय्या ने बाँसरी।

❀ ❀ ❀

जिस आन कान्हजी को वो बन्सी बजावनी,
जिस कान में वो आवनी वाँ सुध भुलावनी।
हर मन को होके मोहनी और चित लुभावनी,
निकली जहाँ धुन उसकी वह मीठी लुभावनी।
सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी,
ऐसी बजाई किशन् कन्हय्या ने बाँसरी।

❀ ❀ ❀

मोहन की बाँसरी के मैं क्या क्या कहूँ जतन,
लय इसकी मन की मोहिनी धुन इसकी चितहरन।
इसी बाँसरी का आन के जिस जा हुआ बचन,
क्या जल पवन 'नज़ीर' पखेरू व क्या हिरन।
सब सुनने वाले कह उठे जै जै हरी हरी,
ऐसी बजाई किशन् कन्हय्या ने बाँसरी।

❀ ❀ ❀

बरखा रुत

वो सारे बरस की जान बरसात,
वो कौन ख़ुदा की शान बरसात।

❀ ❀ ❀

भूबल से सिवा था रेगे-सहरा,
और खौल रहा था आबे-दरिया।
थी लूट सी पड़ रही चमन में,
और आग सी लग रही थी बन में।

❀ ❀ ❀

थीं लोमड़ियाँ ज़बाँ निकाले,
और लू से हिरन हुए थे काले।
चीतों को न थी शिकार की सुध,
हिरनों को न थी कतार की सुध।

❀ ❀ ❀

ढोरों का हुआ था हाल पतला,
बैलों ने दिया था डाल कन्धा।
भैंसों के लहू न था बदन में,
और दूध न था गऊ के थन में।

❀ ❀ ❀

गरमी का लगा हुआ था भपका,
और अश निकल रहा था सबका।

❀ ❀ ❀

थी आग का दे रही हवा काम ,
था आग का नाम मुफ़्त बदनाम ।
रस्तों में सवार और पैदल ,
सब धूप के हाथ से थे बेकल ।
घोड़ों के न आगे उठते थे पाँव ,
मिलती थी कहीं जो रूख की छाँव ।

❀ ❀ ❀

कुँजड़ों की वो बोलियाँ सुहानी ,
भर आता था सुनके मुँह में पानी ।

❀ ❀ ❀

बिना खाये कई कई दिन अक्सर ,
रहते थे फ़क़त ठंडाइयों पर ।
शब कटती थी एड़ियाँ रगड़ते ,
भर पेट के सुबह थे पकड़ते ।
बच्चों का हुआ था हाल बेहाल ,
कुहम्लाए हुए थे फूल से गाल ।
आँखों में था उनका प्यास से दम,
थे पानी को देख करते मम् मम् ।

❀ ❀ ❀

कल शाम तलक तो थे यही तौर ,
पर रात है समाँ ही कुछ और ।
पुरवा की दुहाई फिर रही है,
पछुवा से ख़ुदाई फिर रही है ।
बरसात का बज रहा है डंका ,
इक शोर है आसमाँ प' बरपा ।

है अब्र की फ़ौज आगे आगे,
और पीछे हैं दल के दल हवा के।
हैं रंगबिरंग के रिसाले,
गोरे हैं कहीं कहीं हैं काले।

❀ ❀ ❀

मेंह का है ज़मीन हर दड़ेड़ा,
गरमी का डुबो दिया है बेड़ा।
घनघोर घटाएँ छा रही हैं,
जन्नत की हवाएँ आ रही हैं।

❀ ❀ ❀

बटिया है न है सड़क नमूदार,
अटकल से हैं राह चलते रहवार।

❀ ❀ ❀

पानी से भरा हुआ है जलथल,
है गूंज रहा तमाम जंगल।
करते हैं पपीहे पीहु पीहु,
और मोर झंगारते हैं हर सू।
मेंडक हैं जो बोलने प' आते,
संसार को सर प' हैं उठाते।

❀ ❀ ❀

मन्दिर में है हर कोई य' कहता,
किरपा हुई तेरी मेघराजा।
करते हैं गुरू गुरू गिरन्थी,
गाते हैं भजन कबीरपन्थी।

जाता है कोई मलार गाता,
है देस में कोई गुनगुनाता।
सरवन कोई गा रहा है बैठा,
छोड़ा है किसी ने हीर रांझा।
रक्षक जो बड़े हैं जैन मत के,
ढकने हैं दियों प' ढकते फिरते।
करते हैं वो यूँ जिवों की रक्षा,
ता जल न बुझे कोई पतंगा।

मुनाजाते बेवा से कुछ नमूना

सबसे अनोखे सबसे निराले,
आँख से ओझल दिल के उजाले।
ऐ अँधों की आँख के तारे,
ऐ लँगड़े लूलों के सहारे।

❀ ❀ ❀

नाव जहाँ की खेनेवाले,
दुख में तसल्ली देनेवाले।
जब अब तब तुझसा नहीं कोई,
तुझसे हैं सब तुझसा नहीं कोई।
जोत है तेरी जल और थल में,
बास है तेरी फूल और फल मे।
हर दिल में है तेरा बसेरा,
तू पास और घर दूर है तेरा।
राह तेरी दुश्वार और सकड़ी,
नाम तेरा रहगीर की लकड़ी।

❀ ❀ ❀

तू है अकेलों का रखवाला,
तू है अँधेरे घर का उजाला।
लागू अच्छे और बुरे का,
ख़्वाहाँ खोटे और खरे का।
वैद निरामे बिमारों का,
गाहक मन्दे बाज़ारों का।
सोच मे दिल बहलाने वाला,
बिपता मे याद आने वाला।

❀ ❀ ❀

बे आसों की आस है तूही,
जागते सोते पास है तू ही।

❀ ❀ ❀

तू ही दिलों में आग लगाये,
तू ही दिलों की लगी बुझाये।

❀ ❀ ❀

यहाँ पछवा है वहाँ पुरवा है,
घर घर तेरा हुक्म नया है।

❀ ❀ ❀

एक ने इस जंजाल मे आकर,
चैन न देखा आँख उठाकर।

❀ ❀ ❀

सब को तेरे इनआम थे शामिल,
मै ही न थी इनआम के काबिल।

थाह थी पानी की न किनारा,
तेरे सिवा था कुछ न सहारा।

❀ ❀ ❀

रोकने थे हमले मुझे दिल के,
था मुझे जीना ख़ाक में मिल के।
नफ़्स से थी दिन रात लड़ाई,
दूर थी नेकी पास बुराई।
जान थी मेरी आन की दुश्मन,
आन थी मेरी जान की दुश्मन।
आन सँभाले जान थी जाती,
जान बचाये आन थी जाती।
तय करने थे सात समन्दर,
हुक्म य था हाँ पाँव न हो तर।
कोयला चारों खूँट था फैला,
हुक्म य था पल्ला न हो मैला।
प्यास थी लू थी और थी खरसा,
और दरिया से गुज़रना प्यासा।
धूप की थी पाले प' चढ़ाई,
आग और गन्धक की थी लड़ाई।
दर्द अपना किससे कहूँ क्या था,
आके पहाड़ इक मुझ प' गिरा था।
नफ़्स से डर था मुझको बदी का,
इसलिए हरदम थी य' तमन्ना।
मर जाऊँ या ज़िन्दा रहूँ मैं,
तुझ से मगर शरमिन्दा न हूँ मैं।

जान बला से जाए तो जाए,
पर कहीं देनो बात न आए।

❀ ❀ ❀

भाषा की कसौटी

भाषा की शैली में भेद पड़ जाने का कारण अरबी, फारसी और संस्कृत शब्दों के प्रयोग का तारतम्य है। एक तरफ अरबी फारसी शब्दों की ज़्यादती ने उर्दू को अरबी फारसी का मुरक्कब या मिक्सचर बना दिया है, तो दूसरी ओर सस्कृत शब्दों की भरमार ने भाषा को सस्कृतमय बनाकर हिन्दी का कायाकल्प कर दिया है। दोनों ओर की यह प्रवृत्ति किस प्रकार रोकी जा सकती है, शब्दों का प्रयोग किस रीति और नियम के अनुसार होना चाहिए, जिससे हिन्दी उर्दू की शैली का भेद कम हो जाय और इसके स्वरूप मे यथासम्भव समानता आ जाय, इस विषय पर दोनों भाषाओं के अनुभवी और हितैषी विद्वानों ने जो बहुमूल्य विचार प्रकट किये हैं, उन पर ध्यान देना ज़रूरी है। शब्दों के प्रयोग में जब तक मध्यम मार्ग का अवलम्बन न किया जायगा या मिया नारवी और एतदाल की राह पर न चला जायगा, तब तक हिन्दी-उर्दू का भयानक रूप से बढ़ता हुआ यह भेदभाव कभी दूर न होगा।

शब्दो का समुचित प्रयोग ही भाषा की कसौटी है, इस विषय में डाक्टर ग्रियर्सन साहब, महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, शम्सुलउलमा मौलाना हाली, मौलाना सलीम और मौलवी अब्दुलहक़ साहब ने हिन्दी उर्दू वालों को जो सत्परामर्श दिया है, वह बहुत ही यथार्थ और सारगर्भित है। उन महानुभावों की शुभ सम्मति के अनुसार व्यवहार करने से ही भाषा का सुधार और सस्कार बहुत कुछ सम्भव है। इनके उपदेश पर ध्यान देना हिन्दी उर्दू के हितैषियों

और साहित्य-सेवियों का कर्तव्य है। मनमाने ढंग से अपनी अपनी ढपली पर अपना अपना राग गाने से भाषा मे एकता का भाव कभी उत्पन्न न हो सकेगा।

•ठेठ हिन्दी क्या है, और हिन्दी मे शब्दों का प्रयोग किस नियम के अनुसार होना चाहिए, इस बारे मे भारतीय भाषाओं के मर्मज्ञ विद्वान् डा० ग्रियर्सन साहब लिखते हैं—

"ठेठ हिन्दी संस्कृत की पौत्री (दौहित्री) है, हम यह कह सकते हैं कि सस्कृत की पुत्री प्राकृत और प्राकृत की पुत्री ठेठ हिन्दी है। अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी भी दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करती है। जब वह किसी विशेष विचार को प्रकट करना चाहती है, और देखती है कि उसके पास उपयुक्त शब्द नहीं है, उस समय वह प्रायः आवश्यक शब्द संस्कृत से उधार लेती है, प्रत्येक ठेठ शब्द अर्थात् प्रत्येक वह शब्द जो कि प्राकृत-प्रसूत है 'तद्भव' कहलाता है। सस्कृत से उधार लिया हुआ प्रत्येक शब्द जो कि प्राकृत मे उत्पन्न नहीं है, और इस कारण ठेठ नहीं है, 'तत्सम' कहलाता है। यदि तद्भव शब्द न मिलते हों तो तत्सम शब्द के प्रयोग करने मे कोई आपत्ति नहीं। 'पाप' तत्सम है, ठीक ठीक इस अर्थ का द्योतक कोई तद्भव शब्द नहीं है। अतएव यथास्थान पाप का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु जहाँ एक ही अर्थ के दो शब्द हैं, एक तद्भव (अर्थात ठेठ) दूसरा तत्सम, वहाँ पर तद्भव शब्द का ही प्रयोग होना चाहिये। 'हाथ के लिए तद्भव शब्द 'हाथ' और तत्सम शब्द 'हस्त' है, अतएक 'हस्त' के स्थान पर 'हाथ' का प्रयोग होना ही सगत है। यह स्मरण रहना चाहिए कि प्रत्येक तत्सम शब्द उधार लिया हुआ है। यह उधार हिन्दी को अपनी दादी (नानी) से लेना पड़ता है। यदि मैं अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से प्रायः ऋण लेने की आदत डालूँ तो मैं विनष्ट हो जाऊँगा। इसी प्रकार यदि हिन्दी उस अवस्था मे भी, जब कि

उसके लिए ऋण लेना नितान्त आवश्यक नहीं है, ऋण लेने का स्वभाव डालती रही तो वह भी विनष्ट हो जावेगी। इस कारण मैं बलपूर्वक यह सम्मति देता हूँ कि हिन्दी के लेखक जहाँ तक सम्भव हो, ठेठ शब्दों (अर्थात् तद्भव शब्दों) का प्रयोग करें; क्योंकि वे हिन्दी के स्वाभाविक अंक अथवा अशभूत साधन हैं। उधार लिए हुए संस्कृत (तत्सम) शब्दों का जितना ही कम प्रयोग हो, उतना ही अच्छा। मैं यह प्रकट कर देना चाहता हूँ कि शब्दों के प्रयोग करने की कसौटी यह है कि हम देखें कि यह शब्द तद्भव है, न यह कि तत्सम। कारण इसका यह है कि बहुत से तद्भव शब्द ऐसे हैं, जो कि ज्यों के त्यों वैसे ही हैं, जैसे कि सस्कृत में हैं। जैसे—

संस्कृत	प्राकृत	तद्भव (ठेठ हिन्दी)
वन	वण	बन

यहाँ तत्सम शब्द भी वन (या बन) है, परन्तु बन भी अच्छा ठेठ हिन्दी शब्द है, क्योंकि वन केवल सस्कृत ही नहीं है, वरन् सस्कृत से प्राकृत में होकर आया हिन्दी शब्द है। यह बिल्कुल साधारण बात है कि देवदत्त का पौत्र भी देवदत्त ही कहा जावे, और यही बात हिन्दी के विषय में भी कही जा सकती है।

नीचे कुछ अन्य रूप भी दिये जाते हैं—

संस्कृत	प्राकृत	तद्भव (ठेठ हिन्दी)	तत्सम
जङ्गलः	जगलो	जगल	जङ्गल या जगल
विलासः	विलासो	विलास	विलास या बिलास
सारः	सारो	सार	सार
एकः	एक्को	एक	एक
समरः	समरो	समर	समर
गुणः	गुणो	गुन	गुण (या गुन)

इसी तरह से और भी बहुत से शब्द हैं। अतएव प्राकृत का जानना आवश्यक है, और मैं प्रत्येक मनुष्य को, जो कि हिन्दी की उन्नति करना चाहता है, यह सम्मति भी दूँगा कि वह प्राकृत का अध्ययन करे, क्योंकि वह हिन्दी की माता है। यदि आप जननी को जानते हैं, तो लड़की को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

"माय गुन गाय पिता गुन घोड़।
बहुत नहीं तो थोड़हि थोड़॥"*

हिन्दी भाषा में आजकल संस्कृत शब्दों की जो बाढ आ रही है— भाषा को जो ज़बरदस्ती संस्कृतमय बनाने का अनुचित उद्योग हो रहा है, इस सम्बंन्ध में संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् (जयपुर राजकीय संस्कृत कालेज के प्रिन्सिपल) म० म० प० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं :—

"आवश्यकतानुसार हिन्दी-भाषा में संस्कृत शब्दों का ग्रहण उपयोगी और लाभदायक है, किन्तु हिन्दी-भाषा को सर्वथा संस्कृत ही बना देना लाभदायक नहीं है। संस्कृत में एक नीति वाक्य है 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' अति कहीं नहीं करनी चाहिये, अति से अत्याचार होता है। लेखकों को सदा मध्य-मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये। दूसरे प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार का जैसे ध्यान रखना है, सब श्रेणी के लोगों को एक भाषा समझाने का भी उससे कम ध्यान नहीं रखना है। संस्कृतमय बना कर आपने बगाल, महाराष्ट्र आदि में हिन्दी का प्रचार शीघ्र कर लिया, किन्तु वह केवल शिक्षितों की भाषा बन गई, सर्वसाधारण उसे बिलकुल न समझ सके, तो क्या लाभ हुआ? लाभ क्या, बड़ी हानि हो गई। देश की एक भाषा बनाने का उद्देश्य ही नष्ट हो गया। इससे भाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसे साधारण जनता भी समझ सके। साधारण

---

* **श्रीहरिऔधजीलिखित 'बोलचाल' की भूमिका; पृष्ठ ९-१०।**

बोलचाल की भाषा से चाहे प्रकृति के अनुसार उसमे भेद हो; किन्तु साधारण लोगों के समझने के योग्य तो रहे। तात्पर्य यह कि आजकल कुछ लेखक सज्जन जो 'बंगला' का आदर्श लेकर हिन्दी में प्रतिशतक ८०-९० शब्द सस्कृत के ठूसकर उसे एकदम सस्कृत बना रहे है, यह प्रवृत्ति मेरी समझ मे अच्छी नहीं। इससे हिन्दी का अपना भाण्डार लुप्त हो जायगा और लेख की भाषा साधारण भाषा से बहुत दूर चली जायगी। हिन्दी भाषा में हिन्दी भाषा के शब्द ही प्रथम लेने चाहिएँ। फिर जब उनसे आवश्यकता पूरी न हो, तब संस्कृत-भाषा से सरल शब्द लेने चाहिएँ। किन्तु कई एक लेखक सज्जन तो आजकल हिन्दी मे ऐसे अप्रसिद्ध शब्द और ऐसे विकट समासों का प्रयोग करते हैं जो आजकल सस्कृत भाषा मे भी 'भयङ्कर' माने जाते हैं। 'विकच मल्लिका चढाकर,' 'स्वलक्ष्य शैलशृङ्ग पै', 'अनल्प कल्प कल्पना', 'जल प्रशात रेणुकामय मार्ग', 'सहानुभूतिजनित हृदयममता', 'शुभ्रागिनी सुपवना सुजला सुकूल', सत्पुष्प सौरभवती', 'गिरिशृङ्गस्पर्द्धिनी', 'इन्द्रियों की सजीव क्रिया', 'सकुचित परिधि मे आबद्ध', इत्यादि अप्रसिद्ध शब्द और जटिल समासों से लदे हुए वाक्य-खण्ड जो हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों की लेखनी से निकल रहे हैं, इनका समझना साधारण संस्कृत के लिए भी कठिन है। इस प्रकार हिन्दी की प्रकृति की रक्षा कैसे होगी? हिन्दी की प्रकृति को तो सुरक्षित रखना है। इस समय तो सस्कृत को भी सरल बनाने का आन्दोलन है, वहाँ भी समासो पर आक्षेप होते हैं, फिर संस्कृत सरल बने, और हिन्दी कठिन बनती जाय! यह विचित्र मार्ग है! इसके अतिरिक्त इस प्रकार के जटिल शब्दों और वाक्यो को हठात् हिन्दी मे खींचने वाले सज्जन बहुधा संस्कृत व्याकरण के नियमों का भी कायाकल्प करने पर उतारू हो रहे हैं, वे संस्कृत के अगाध समुद्र मे तल तक डुबकी लगाकर नए नए शब्द खोजकर लाते हैं, किन्तु उनसे अपने मनमाने मुहाविरों का काम लेते हैं, और

सस्कृत व्याकरण के नियमों की भी बिलकुल पर्वाह नहीं करते। जब संस्कृत से शब्द लेना है, तब उन शब्दों की दो ही प्रक्रियाएँ हो सकती हैं—या तो हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल—वैसे प्रत्यय लगाकर उन्हें बनाया जाय, जैसा कि प्राचीन कवि बहुधा करते रहे हैं, जैसे, 'सुन्दरता' सस्कृत का शब्द है, इसे हिन्दी मे लेते समय 'सुन्दरताई' बना लिया, तो यह हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल हुआ। या फिर सस्कृत शब्दों को अपने ही शुद्ध रूप मे लिया जाय, जैसे कि आजकल चाल है। इस दशा मे वे सस्कृत मे जैसे अर्थ मे हैं, या उनके सम्बन्ध मे सस्कृत व्याकरण के जैसे नियम हैं, एव वाक्य रचना की सस्कृत और हिन्दी की जैसी पद्धति है, उस सब की रक्षा आवश्यक होगी। यदि ये सब बाते न हुई, तो हिन्दी एक विलक्षण भाषा बन जायगी। बगाली लेखकों ने कुछ सस्कृत शब्दों को मनमाने मुहाविरों मे बाँधा था, 'आप यह उपकार कर हमे चिरबाधित करेंगे,' इत्यादि, उनकी तो हँसी होती ही थी, इधर हिन्दी के लेखक सज्जन उनसे भी बहुत आगे बढ गये। उदाहरण—'मीलित वर्ण', 'कविता के माध्यम शब्द हैं', इत्यादि मुहाविरे सस्कृत में कहीं प्राप्त नहीं होते, न इन सस्कृत शब्दों का इससे मिलते जुलते अर्थ मे ही प्रयोग प्राप्त है। हिन्दी में तो ऐसे शब्दों की गध भी क्यों आने लगी, किन्तु हिन्दी के 'भाग्य-विधाता' इनका प्रयोग करते हैं, फिर यह मनमानी नई भाषा गढ़ना नहीं तो क्या है? 'इसके अतिरिक्त उसकी क्रिया भी कठोर होती है,' के स्थान मे कई सज्जन लेखक 'इसके व्यतीत उसकी क्रिया भी' लिखने लगे हैं, यह 'व्यतीत' शब्द सर्वथा मुहाविरे और व्याकरण दोनों से विरुद्ध है। 'मनस्कामना' जब हिन्दी और सस्कृत दोनों के नियमो से सगत नहीं (हिन्दी में मनकामना होनी चाहिए, और सस्कृत मे मनःकामना)। तब फिर उसे क्यों हिन्दी के सिर पर लादा जाय? अनुपमा तरुराजि हरीतिमा', 'अरुणिमा जगतीतलरजिनी' आदि के 'हरीतिमा',

'अरुणिमा' शब्द हिन्दी प्रकृति के अनुकूल तो हैं ही नहीं, वहाँ तो 'हरियाली', 'अरुनाई' होने चाहिएँ, हिन्दी वाले तो इन शब्दों का अर्थ सीखने को कुछ दिन पढ़ें तब उनका काम चले, किन्तु इन्हें शुद्ध संस्कृत मान लेने पर भी यह आपत्ति रहती है कि संस्कृत में ये शब्द पुंलिङ्ग हैं, फिर यहाँ स्त्रीलिङ्ग क्यों बनाये गए ! इनकी जाति का 'महिमा' शब्द अवश्य हिन्दी मे स्त्रीलिङ्ग होकर आया है किन्तु इससे क्या ऐसे सब शब्दों को हिन्दी भाषा में लेने का और सबको 'स्त्रीलिङ्ग' बना लेने का अधिकार हमें प्राप्त हो गया ? अच्छा इसे क्षम्य भी मान लें, तो और देखिये 'प्रति घड़ी-पल सशय प्राण हैं' इस वाक्य मे 'प्राण के सशय' के लिए 'संशयप्राण' को किस भाषा के अनुकूल माने ? सस्कृत के अनुसार हिन्दी में या तो 'प्राण का सशय' कहना चाहिए, या 'प्राण-सशय' कहना चाहिए। यदि जिनके प्राणों का सशय है, उस व्यक्ति का विशेषण इस शब्द को बना देना हो, तो 'सशयगतप्राण' कहना पड़ेगा, 'सशय प्राण' तो किसी भाँति हिन्दी मे नहीं जमता। हाँ 'बहारे चमन' और 'गुलदस्ते गुलाब' आदि की तरह 'सशये प्राण' बनाया जाय तो चल सकेगा। किन्तु भारतीय रसाल में यह अरब के खजूर का पैवंद कहाँ तक उचित होगा, यह पाठक ही सोंचे। इसी तरह 'इस सओज सुभाषण श्याम से' इस वाक्य में भी 'श्याम के सुभाषण से' या 'श्याम-सुभाषण से होना चाहिए—वाक्य के शब्द सब विकट संस्कृत के और नियम विदेशीय ! यह कैसे उचित हो सकता है ? 'अगम्य-कातार-दरी-गिरींद्र में' यहाँ भी 'दरी' शब्द का पूर्व निपात सस्कृत व्याकरण की रीति से शुद्ध नहीं हो सकता। 'गिरींद्र-दरी में' या गिरीन्द्र की दरी में' होना चाहिए। इस प्रकार के संस्कृत की तह के तो शब्द हों, और सस्कृत-व्याकरण के नियम के विरुद्ध हों, तो उनकी उचितता विचारणीय होगी। 'ज्योति-विकीर्णकारी उज्जवल चक्षुओं के सम्मुख है,' इस वाक्य मे 'ज्योति विकीर्णकारी' शब्द जैसा विकट

है, वैसा ही अशुद्ध भी है। 'विकीर्ण' शब्द स्वतन्त्र भाव-वाचक विशेषण नहीं है। उसे ज्योति का विशेषण बनाने से वह ज्योति से पूर्व प्रयुक्त होगा, स्वतन्त्र भाववाचक शब्द बनाने से 'ज्योति विकरिर्णकारी' कहना उचित होगा। 'श्रुतिकठ विदीर्णकारी अक्षरों से' का भी यही हाल है, 'श्रुतिकठ विदारणकारी' हो सकता है।

'बहु भयावह गाढ़-मसी-समा
सकल लोक-प्रकंपित-कारिणी।'
'विषाक्त श्वासा दल दग्ध-कारिणी'

इत्यादि वाक्यों की जटिलता और हिन्दी में लिए जाने की योग्यता पाठक देखें, और साथ ही 'प्रकपितकारिणी, और 'दलदग्धकारिणी' की पूर्वोक्त अशुद्धि पर भी ध्यान दें। यहाँ 'प्रकंपनकारिणी' और 'दलदाहकारिणी' ही व्याकरण के अनुकूल हो सकता है। 'अपनी अल्प विषया मति-साहाय्य से' इस वाक्यखड में भी समास के नियमों का पालन नहीं है। यहाँ 'साहाय्य' शब्द को यदि समास से पृथक् रखें, तो मति के साहाय्य से कहना चाहिए। और 'साहाय्य' को भी समास के भीतर डालें, तो 'अपनी' यह स्त्रीलिंग विशेषण किसके सिर मढ़ जाय? साहाय्य तक समास हो, और विशेषण मति के साथ लगे, यह संस्कृत व्याकरण और हिन्दी की प्रकृति के भी प्रतिकूल है। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि संस्कृत के जटिल समास वाले शब्द लेखक महोदय हिन्दी में लेते हैं, किन्तु सस्कृत नियमों की पर्वाह करना नहीं चाहते। तद्धित की और भी दुर्दशा है। व्याकरण के महाभाष्कार भगवान् पतंजलि ने एक जगह वार्तिककार वररुचि का मजाक करते हुए लिखा है कि 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः' अर्थात् दक्षिण देश के लोगों का तद्धित से बड़ा प्रेम है, जहाँ बिना तद्धित काम चाल सकता हो, वहाँ भी वह तद्धित लगाते हैं। इसका उदाहरण

भी उन्होंने दिया है कि 'यथा लोके वेदे च' इस सीधे वाक्य से जहाँ काम चल सकता है, वहाँ भी दक्षिणी लोग 'यथा लौकिक वैदिकेषु' ऐसा तद्धित प्रत्यय लगाकर प्रयोग किया करते हैं। अस्तु, यह उस समय की बात होगी, आजकल तो 'प्रियतद्धिताः हिन्दीकर्णधाराः' कहना चाहिए। हिन्दी के लेखक-प्रवरों का तद्धित से इतना प्रेम बढ गया है कि हो न हो, प्रयोजन से या बिना प्रयोजन तद्धित ज़रूर लाते हैं। फिर आनन्द यह है कि संस्कृत के शुद्ध शब्द हों, उनमें सस्कृत के ही तद्धित लगाए जायँ, किन्तु सस्कृत-व्याकरण की कोई पर्वाह नहीं। सस्कृत व्याकरण की रीति से चाहे और ही तद्धित प्राप्त हो, और उस तद्धित का चाहे और रूप बनता हो, किन्तु हमारे लेखक महोदय एक नया तद्धित रूप गढ़ नई भाषा की निर्माण शक्ति का परिचय देही देते हैं। इन बातों के उदाहरण लीजिए 'यह कार्य आवश्यक है।' लिखने से पूरा निर्वाह होता है, किन्तु प्रिय-तद्धित यहाँ 'यह कार्य आवश्यकीय है' लिखते हैं 'समूह रूप मे आन्दोलन' लिखना पर्याप्त है, किन्तु 'सामूहिक रूप से आदोलन' लिखने मे उन्हें विशेष आनन्द आता है। 'वैयाकरण' रूप स्वय तद्धितान्त है, किन्तु लेखक महोदय डवल तद्धित लगाकर 'वैयाकरण पण्डित' लिखने मे शान समझते हैं। हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल 'व्याकरणी पण्डित' करना चाहिए, संस्कृत से 'वैयाकरण पण्डित' शुद्ध है, किन्तु 'वैयाकरणी' कहाँ से निकल पड़ता है, भगवान् जाने! 'वास्तव में' लिखना पर्याप्त है, किंतु 'वास्तविक मे' लिखना महत्व का माना जाता है। एक विकट लेखक महोदय ने एक जगह "शार्ङ्गारिक कविता" लिखा है, मतलब है आपका 'श्रृङ्गाररस की कविता' से! हम सत्य कहते हैं, यह भीषण तद्धित-प्रयोग हमने संस्कृत में भी नहीं देखा। और एक वाक्य लीजिए 'आप के द्वारा हम साभापत्य आसन को सुशोभित होते देखना चाहते हैं' भला यह महानुभाव 'सभापति के आसन को' लिख देते तो भाषा

की क्या नाक कटी जाती थी ? सस्कृत वाले भी जहाँ 'वर्णच्छन्द,' 'मात्राछन्द' लिखकर काम चलाते हैं, वहाँ हमारी हिन्दी के आचार्य 'वार्णिकछद' और 'मात्रिकछद' लिखना ही आवश्यक समझते हैं ? ये रूप ठीक भी हैं या नहीं, सो कौन सोचे। अशुद्ध और अनुपयुक्त तद्धितान्तों का तो ठिकाना ही नहीं है। बस एक 'इक' को सब ने प्रधान तद्धित मान रखा है, कोई व्याकरण के ग्रन्थकार बनकर भी 'सार्वनामिक' लिखते हैं, कोई अलकार के आचार्य 'अलकारिक' काव्य और 'शाब्दिक चमत्कार' लिख डालते हैं। 'सार्वदेशिक ज्ञान' कहता है, तो कोई 'सार्वभौमिक' रूप दे डालता है। लिखते हँसी आती है, कई सज्जन तो 'व्याक्तिक लिखकर अपनी वैयक्तिक योग्यता का साफ पर्दा उघार देते हैं। 'साम्राज्यिक,' 'साहित्यिक' 'आत्मिक' 'मानसिक,' बौद्धिक,' 'व्याख्यानिक,' 'वैद्युतिक,' 'पाशविक' कहाँ तक गिनावें, ऐसे-ऐसे विचित्र रूप हिन्दी में चल रहे हैं, कि देखते ही बनता है। इस 'इक' 'इक' की टिक-टिक में भले ही कुछ सज्जन सौदर्य समझते हों, किन्तु व्याकरण का गला घोटा जा रहा है, इस में सन्देह नहीं। 'इक' की तरह 'इत' का भी प्रेम बढता जाता है, 'क्षेत्र सीमित है' (सीमाबद्ध है, इत्यर्थः), 'वे निरुत्साहित हो गये' (निरुत्साह से काम नहीं चलता क्या ?), 'निर्माणित हुआ है' आदि-आदि प्रयोग की बानगी अब मिलने लगी है। हमारा विनय यह है कि प्रथम तो तद्धित के इतने जजाल में जान बूझ कर घुसने की आवश्यकता क्या है ? और तद्धितात रूप लेना ही है, तो ऐसे ही रूप लिए जायें, जिनका प्रयोग हम जानते हों। अशुद्ध तद्धित लेकर भाषा की मिट्टी पलीद करने के साथ-साथ अपना भी उपहास क्यों कराया जाय ? ऐसे तद्धितातों से भाषा की कठिनता भी बहुत बढ रही है, सीधी 'षष्ठी विभक्ति' या 'सबधी' शब्द लगाने से (साम्राज्यसबधी साहित्य सम्बन्धी आदि) जब काम अच्छी तरह चल सकता है, तो इस तद्धित प्रेम के व्यसन में क्यो उलझना।

"तद्धितातों की तरह कृदन्त रूप भी कुछ-कुछ विलक्षण बनाये जा रहे हैं, 'प्रकपायमान-वृक्ष,' 'नियमित रूप' 'इच्छित अर्थ' आदि शब्द धुरधर लेखकों के लेखों में भी देखे जाते हैं, जहाँ कि व्याकरण से 'प्रकंपित,' 'नियत,' 'इष्ट,' होने चाहिएँ। 'हमने अमुक बात को प्रमाण किया,' 'यह मार्ग मैंने निश्चय किया' इत्यादि मुहाविरे भी बढ़ रहे हैं, जिनमें कि विशेषण बनाकर भी भाववाचक शब्द ही रख दिए जाते हैं। या तो 'बात का निश्चय' चाहिए, या 'बात निश्चित'। इसी तरह स्त्री प्रत्यय के प्रयोग में भी हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल व्योहार हो रहा है। हिन्दी मे विशेषणों के आगे स्त्री प्रत्यय बहुधा नहीं आता, ख़ास कर विधेय विशेषण के आगे तो स्त्री प्रत्यय प्रायः इस भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ता। 'प्रधान सहायिका होने के कारण आदरणीया है' और 'विविधा सहायता,' 'अशक की थी' आदि प्रयोग कहाँ तक प्रकृति के अनुकूल माने जा सकते हैं।"*

मुसलमान विद्वानों की राय

महामहोपाध्याय जी ने हिन्दी को संस्कृत रंग में रंगनेवालों को चेतावनी देते हुए उन्हें अति के अत्याचार से बचकर मध्यम मार्ग पर चलने की जो समुचित प्रेरणा की है, मौलाना अब्दुलहक़ साहब ने भी अरबी-फ़ारसी के मतवाले कवि-लेखकों को, अपने बुज़ुर्गों का मार्ग छोड़ देने के कारण, ठीक वैसी ही तम्बीह की है। उन्होंने हिन्दीवालों के भी कान खोल दिये हैं।

इन्तख़ाब कलामे-मीर के मुक़द्दमे मे मौलवी अब्दुलहक़ साहब लिखते हैं—

---

*महामहोपाध्याय श्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का 'वर्तमान हिन्दी में संस्कृत शब्दों का ग्रहण' शीर्षक नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित निबन्ध।

"इसमें शक नहीं कि 'मीर' के कलाम में फ़ारसियत का रग ज़्यादा है, मगर इस पर भी साफ़ और सुथरे अशआर भी कसरत से पाये जाते हैं। फसाहत और सलासत (सुगमता और सरलता) मुताख़रीन (पूर्व लेखकों) के कलाम से कहीं ज़्यादा है। अगर्चे 'मीर' और उनके हम अशर शोअरा (समकालीन कवियों) के कलाम में फ़ारसियत ग़ालिब है, लेकिन इस ज़माने मे अरबियत का रग जो ग़ालिब होता जाता है, वह उससे कुछ कम नहीं है। इन बुज़ुर्गों ने तो फिर भी यह किया कि जहाँ कसरत से फारसी तरकीबें दाख़िल कीं, वहाँ बहुत से अलफ़ाज़ को अपना कर लिया और सिर्फ सरफ नहो (व्याकरण) की ख़रात पर चढ़ाकर उर्दू बना लिया। लेकिन आजकल यह कोशिश की जाती है कि अरबी अलफ़ाज़ और तरकीबों को जूँ का तूँ रक्खा जाय; ऐसा न हो कि यह मुक़द्दस अलफाज़ (पवित्र शब्दावली) उर्दू सरफ़ नहो के छू जाने से नजस (अपवित्र) हो जायँ। उन बुज़ुर्गों ने ज़बान को बनाने और वसीअ करने की कोशिश की और बहुत बड़ा अहसान किया। मगर आजकल लोग उनकी तकलीद (अनुकरण) को नग (हेय) समझते और उनकी कोशिशों को ग़लतुलआम* से तावीर

*"आमग़लती और अवाम की ग़लती में बहुत बड़ा फ़र्क़ है। जो ग़लत अलफ़ाज़ ख़ासोआम दोनों की ज़बान पर जारी हो जाँय, वह आम ग़लती में दाख़िल हैं। ऐसे अलफ़ाज़ का बोलना सिर्फ़ जायज़ ही नहीं बल्कि सही बोलने से बेहतर है। हाँ, जो ग़लत अलफ़ाज़ सिर्फ़ अवाम और जुहला (सर्वसाधारण और अनपढ़) की ज़बान पर जारी हों, न कि ख़वास और पढ़े-लिखों की ज़बान पर, अलबत्ता ऐसे अलफ़ाज़ को तर्क करना वाजिब है, जैसे मिज़ाज को मिजाज़ कहना, मुनकिर को नामुनकिर, ख़ालिस को निख़ालिस, नाहक़ को बेनाहक़, दरवाज़े को दरवज़्ज़ा, नुसख़े को नुखसा, वग़ैरह है।" (मुक़द्दमा हाली, पृष्ठ १११)

करते हैं, हालाँकि वह सही असूल पर चल रहे थे, और हम बावजूद हमादानी (सर्वज्ञता) के ज़बान की असली तरक्की व नशोनुमा के गुर से नावाक़िफ हैं। एक दूसरा फरीक़, जो फारसी अरबी के मकबूल (अङ्गीकृत) अलफाज निकाल कर उनकी जगह ग़ैर-मानूस और सकील संस्कृत के अल्फ़ाज़ ठूँसना चाहता है, इसी नाफहमी (अज्ञता) में मुब्तला है। हमारी राय में यह दोनों ज़बान के दुश्मन हैं।" (पृ० १८, १९)।

उर्दू के वह लेखक, जो हिन्दी-संस्कृत शब्दों से अपना दामन बचाते हुए चलते हैं और उर्दू पर हिन्दी की परिछाँई नहीं पड़ने देना चाहते—उर्दू मे हिन्दी-संस्कृत के शब्दों की मिलावट को कुफ़्र से कम नहीं समझते; मौलाना वहीदुद्दीन सलीम ने उन्हे एक करारी फटकार इन शब्दों मे बताई है—

" .. मगर अफसोस है कि हमारे ज़माने के बाज़ ग़ज़लगो शाइर, जिनको 'सौदा' की ज़बान मे हम शाइरल्ले कह सकते हैं; मुस्तअमिल और मरविवज ज़बान में से छील छीलकर बहुत से अलफ़ाज़ तो निकालते और मतरूकात का दायरा वसीअ करते जाते हैं, लेकिन ऐसा कोई सामान मुहय्या नहीं करते, और ऐसा कोई तरीक़ा अख़्तियार नहीं करते जिससे हमारी ज़बान में अदाय मतालिब व ख़यालात की वसअ़त पैदा हो और उसको दिन दूनी रात चौगुनी तरक़्क़ी नसीब हो। अगर कोई शख़्स बुज़ुर्ग के नक़्शक़दम पर चलकर किसी फ़ारसी या अरबी लफ़्ज़ को किसी हिन्दी लफ़्ज़ के साथ जोड़ देता है, या फारसी ज़बान के किसी साबक़े (उपसर्ग) या लाहक़े (प्रत्यय) को किसी हिन्दी लफ़्ज़ के साथ मिला देता है, या किसी हिन्दी साबक़े या लाहके को अरबी या फारसी लफ़्ज़ के शुरू या आख़िर मे लगा देता है,*

---

* एकेडमी के 'हिन्दुस्तानी' रिसाले के 'तिमाही' लफ़्ज़ पर नज़्मो-इन्शा के कुछ ठरबानों ने शोर मचाया था—इसे ग़लत बताया था,

या कोई मसदर (धातु) बनाकर उसके मश्तकात (उससे उत्पन्न हुए शब्द) से काम लेता है, तो यह नजमोइन्शा के दरबान उसका क़लम पकड़ लेते हैं और उसकी ज़बान गुद्दी से खींचने के लिये तयार हो जाते हैं और उससे किसी गुजिश्ता शाइर की सनद का मतालिबा करते हैं और फरमाते हैं कि जो अल्फाज़ पहले बन चुके हैं, वह समायी हैं, उन पर क़यास कर के नये अलफाज़ बनाये नहीं जा सकते; हालाँ कि वह हज़रत यह ख़्याल नहीं करते कि जब कोई ऐसी ही मखलूत लफ़्ज़ या 'सबक़ लाही' लफ़्ज़ या नया मसदर बनाया गया था और किसी शाइर ने उसको अव्वल-अव्वल इस्तेमाल किया था, तो ऐसा ही मतालिबा करने पर वह उस लफ़्ज़ या मसदर की कोई सनद गुजिश्ता शोरा के कलाम से पेश नहीं कर सकता था। अगर बिल फ़र्ज़ वह कोई ऐसा ही दूसरा लफ़्ज़ पेश करता, जो बनकर मुस्तअमिल हो चुका था, तो उस समायी लफ्ज को क़यासी क्योंकर साबित कर सकता था। फिर वह यह ख़याल नहीं करते कि अगर उन्हीं जैसे ज़बान व अलफाज़ के क़ातिल उस ज़माने मे मौजूद होते और उनका अख़्तियार नाफ़िज़ होता, तो किसी तरह मुमकिन न था कि हमारे बुज़ुर्ग आज हमारे लिये उर्दू जबान मे पचपन हज़ार से ज़्यादा अलफाज़ का ज़ख़ीरा छोड़ जाते। जर्मन, फरासीसी और अँगरेज़ अगर इस नामाकूल असूल पर अमल करते, तो उन क़ौमों की तरक्क़ीयाफ़्ता ज़बाने एक इंच आगे न सरकतीं और अलूमो फ़ुनुन और हर क़िस्म के ख़यालात व अफ़कार के ज़ख़ीरे इन ज़बानों में मुहय्या न हो सकते। अँगरेज़ी ज़बान बमुक़ाबिले जर्मन और फ़रासीसी ज़बान के कम वसीअ है, ताहम 'न्यूस्टेण्डर्ड डिक्-

---

जिसका माक़ूल जवाब कानपुर के रिसाले 'ज़माने' में किसी साहब ने दिया था। लफ़्ज़ तिमाही में 'माही' (फ़ारसी) के साथ 'ति' (हिन्दी) सावक़ा लगा हुआ है, इस पर एतराज़ है।

शनरी' के नाम से हाल में अँगरेज़ी ज़बान की जो लुग़ात अमरीका से आया हुई है, उसमें साढे चार लाख अलफ़ाज़ मौजूद हैं। ......इन मुल्कों और क़ौमों में ज़बान और क़लम के ऐसे दरबान मौजूद नहीं हैं, जैसे हमारे मुल्क और हमारी क़ौम में मौजूद हैं। यह हज़रात अरबी और फ़ारसी के मिलाप को तो रवा रखते हैं, मगर हिन्दी अलफ़ाज़ के साथ इस मिलाप को गवारा नहीं करते, हालाँकि इस मिलाप की हज़ारों मिसालें हमारी बुज़ुर्ग बतौर यादगार छोड़े गये हैं .... ।"*

उर्दू साहित्य पर यथार्थ अधिकार प्राप्त करने और उर्दू का सच्चा शाइर बनने के लिए हिन्दी का जानना कितना ज़रूरी है, हिन्दी के बिना उर्दू कितनी अधूरी है, इस बात को हाली साहब ने क्या अच्छे ढंग से दृष्टान्त देकर समझाया है। वे अपने मुक़द्दमे में लिखते हैं—

"उर्दू पर क़ुदरत (अधिकार) हासिल करने के लिए सिर्फ़ दिल्ली या लखनऊ की ज़बान का ततब्बो (पैरवी) ही काफी नहीं है, बल्कि यह भी ज़रूर है कि अरबी और फ़ारसी में कम से कम मुतवस्सित दर्जे (मध्यम कोटि) की लियाक़त और हिन्दी भाषा में फ़िल् जुमला दस्त-गाह बहम पहुँचाई जाय (अच्छी खासी योग्यता प्राप्त की जाय)।† उर्दू ज़बान की बुनियाद, जैसा कि मालूम है, हिन्दी भाषा पर रक्खी

---

*'वज़े इस्तलाहात,' पृष्ठ १६०, १६१।

† हज़रत 'अकबर' की राय में इन सब बखेड़ों में पड़ने की भी ज़रूरत नहीं। शाइरी की ज़बान मोमबत्ती की लौ की तरह साफ़, रोशन, दिलों को गर्माने और पिघलानेवाली हो, बस इतना ही काफी है—

छोड़ देहली, लखनऊ से भी न कुछ उम्मीद कर,
नज़्म में भी वाज़े-आज़ादी की अब ताईद कर।
साफ़ है, रोशन है, और है साहबे-सोज़ो-गदाज़;
शाइरी में बस ज़बाने-शमा की तक़लीद कर।

गई है। उसके तमाम अफ़आल और तमाम हरूफ़ और ग़ालिब हिस्सा अस्मा का हिन्दी मे माख़ूज़ है (क्रियापद, कारकचिह्न और संज्ञापद हिन्दी से लिये गये हैं) और उर्दू शाइरी की बिना फ़ारसी शाइरी पर, जो अरबी शाइरी से मुस्तफ़ाद (लाभान्वित) है, क़ायम हुई है। नीज़ उर्दू ज़बान में बहुत बड़ा हिस्सा अस्मा (संज्ञाओं) का अरबी और फ़ारसी मे माख़ूज़ है। पस, उर्दू ज़बान का शाइर, जो हिन्दी भाषा को मुतलक़ नहीं जानता और महज़ अरबी व फ़ारसी की तानगाड़ी चलाता है, यह गोया अपनी गाड़ी वग़ैर पहियों के मज़िले मक़सूद तक पहुँचाना चाहता है। और जो अरबी व फ़ारसी से नाबलद, (नावाक़िफ़) है, और हिन्दी भाषा या महज़ मादरी ज़बान के भरोसे पर इस बोझ का मुतहम्मिल होता है, वह एक ऐसी गाड़ी ठेलता है जिसमें बैल नहीं जोते गये।"* (पृ० १०७, १०८)।

लेकिन उर्दूवाले अबतक इस ज़रूरी बात की तरफ़ ध्यान नहीं देते— हिन्दी सीखने की ज़रूरत को ज़रा भी महसूस नहीं करते—उर्दू पर क़ुदरत हासिल करने के लिए अरबी फ़ारसी की वाक़फ़ियत तो ज़रूरी समझते हैं, मगर हिन्दी की नहीं। मिर्ज़ा मौलाना मुहम्मद हादी साहब 'अज़ीज़' लखनवी अपनी "अज़ीज़ुल्लुग़ात" के दीबाचे में फ़रमाते हैं—

"उर्दू ज़बान में सही इद्राक (ज्ञान) पैदा होने के लिये इस बात की बड़ी ज़रूरत है कि फ़ारसी ज़बान और किसी क़द्र अरबी से बाक़ायदा वाकफ़ियत हो।"

इस हिदायत में मिर्ज़ा साहब हिन्दी और संस्कृत को बिलकुल नज़र-अन्दाज़ कर गये हैं—इस तरफ़ तवज्जह दिलाना ज़रूरी नहीं समझा। हिन्दी से वाक़िफ़ हुए बग़ैर उर्दू का सही इद्राक होना मुशकिल ही नहीं क़रीब क़रीब नामुमकिन है।

—व्याख्याता।

उर्दू शाइरी मे तरक्की की रूह फूकने का गुर बताते हुए जनाब हाली आगे फरमाते हैं—

" .. ...संस्कृत और भाषा मे खयालात का एक दूसरा आलम है और उर्दू ज़बान बनिस्बत और ज़बानों के संस्कृत और भाषा के ख़यालात से ज़्यादा मुनासिब रखती है। इसलिए इन ज़बानों से भी ख़यालात के अख़ज़ करने मे कमी न करें और जहाँ तक कि अपनी ज़बान मे उनके अदा करने की ताक़त हो उनको शेर के लिबास में ज़ाहिर करे और इस तरह उर्दू शाइरी में तरक्की की रूह फूंके।"

इसी से मिलती-जुलती राय मौलाना वहीदुद्दीन सलीम पानीपती की है। उन्होंने उर्दू ज़बान को तरक्की देने और सही मानों मे हिन्दुस्तानी बनने की तरकीब यह बयान की है—

" . ... पस, जब हमारा मक़सद यह है कि हम अपनी ज़बान मे अदा-ए-ख़यालात के साँचों की तादाद बढावे और इस ग़रज से हिन्दू मज़बूत, हिन्दू-देवमाला (Mythology)—पौराणिक उपाख्यान), हिन्दू तारीख़ (इतिहास) और हिन्दू अदब (साहित्य) की तलमीहात (कथानक और दृष्टान्त) का इज़ाफ़ा करे तो इससे हमारे मज़हब और अक़्ल पर कोई असर नहीं पड़ सकता, न कोई चीज़ हमे मजबूर करती है, कि इन चीज़ों के वजूद पर हम यक़ीन करें, बल्कि इस इज़फे से हमे हस्ब ज़ैल फवायद (निम्नलिखित लाभ) हासिल होंगे :—

(१) मुख़्तलिफ़ ख़यालात के अदा करने पर हम पहले से ज़्यादा क़ादिर हो जायँगे।

(२) यह इलज़ाम हम पर से दूर होगा कि हम महज़ मज़हबी तास्सुब की बिना पर हिन्दू अदबीयात (हिन्दू साहित्य) से गुरेज़ करते रहे।

(३) हिन्दू हमारे अदबीयत से पेश्तर की निस्बत ज़्यादा मानूस (परिचित) हो जायँगे।

(४) हमारी ज़बान सही मानों मे हिन्दुस्तानी ज़बान और हमारा अदब सही मानों मे हिन्दुस्तानी कहलाने का मुस्तहक़ होगा।

(५) हिन्दू मुसलमानों के इत्तहाद (ऐक्य) की बुनियाद मज़बूत होगी और हुब्बेवतन (देशभक्ति) के मैदान मे आसानी से दोनों क़ौमे एक साथ दौड़ेंगी।

इस नुक्ते हर पहुँचने के बाद हमको लाज़िम है कि हिन्दुओं के मुन्दरजा ज़ैल ज़ख़ीरे पर नज़र डाले और उनसे जदीद तलमीहात हासिल करे :—

१—रामायण, २—महाभारत, ३—हिन्दू अहदे-हकूमत (शासन-काल) की तारीख़, ४—हिन्दू अफसाने—मसलन् शकुन्तला, नलदमन (नल-दमयन्ती) विक्रमोर्वशी वग़ैरा, ५—हिन्दू देवमाला, ६—हिन्दू रसूम, ७—हिन्दू फिरक़ों के हालात व ख़यालात··· · ❀

हम इस मौक़े पर ख़सूसियत के साथ उन तलमीहात का ज़िक्र करना चाहते हैं जो हिन्दू अदबीयात से ली जा सकती हैं और जिनसे

❀ आज तो उर्दू फ़ारसी के विद्वान् हिन्दू तलमीहात से इस क़दर नावाक़िफ़ हैं कि जगजाहिर 'काशी' को बमानी 'इलाहाबाद' लिखते हैं। (देखिये अहसन मारहरवी की फ़रहग दीवाने-वली)।

इसी फरहग में अर्जुन का परिचय इस प्रकार दिया गया है—"एक क़दीम पहलवान जो बड़ा तीरन्दाज़ था।"

'गुलशने-हिन्द' के ७वें सफ़े पर कर्मनाशा (नदी) को "करमनामसी की नदी" लिखा है; ख़ैर यहीं तक नहीं है, इस पर हज़रत मौलाना शिबली साहब जैसे उर्दू फ़ारसी के मुन्शी का नोट है—"यानी इस नदी से जिसका नाम करम था।"

हमारे अदबीयात के क़ालिब में नई रूह पैदा हो सकती है, और जिनके इज़ाफे के बाद हम अपनी ज़बान और अदब को दोनों क़ौमों का मुश्तरका सरमाया कह सकते हैं।*

हिन्दी में शब्द-प्रयोग की व्यवस्था

हिन्दी एक आम भाषा है। इसमें तो सन्देह का अवकाश ही नहीं क्योंकि उसकी उत्पत्ति संस्कृत और प्राकृत भाषा से हुई है। इसे सभी ने स्वीकार किया है। हिन्दी के बहुसंख्यक शब्द अपने वर्तमान तद्भव और तत्सम रूप में इस बात का स्पष्ट परिचय दे रहे हैं कि वह किस परिवार की सन्तान हैं। इसलिए हिन्दी के कलेवर की पुष्टि संस्कृत और प्राकृत के तत्सम और तद्भव शब्दों द्वारा ही होना स्वाभाविक है—यही उसकी प्रकृति के अनुकूल है, (जैसाकि डा० ग्रियर्सन साहब ने भी अपनी ऊपर उद्धृत सम्मति में कहा है) और उर्दू भी यदि वह हिन्दी ही है, जैसा कि वास्तव मे वह है, इस बात का जन्मसिद्ध अधिकार रखती है कि विदेशी और भिन्न परिवार के शब्दों की अपेक्षा उसकी श्रीवृद्धि और भण्डार की पूर्ति उन्हीं तद्भव और तत्सम शब्दों से होनी चाहिए जिनसे कि हिन्दी की होती है। इसलिए इस बात को स्पष्ट करने के लिए—संस्कृत और प्राकृत से हिन्दी का स्वाभाविक सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये—हम यहाँ कुछ शब्दों की तालिका देते हैं, और चूँकि फ़ारसी भी आर्यभाषा-परिवार की ही सन्तान है—संस्कृत की पुत्री या बहन है—जिसका परिचय दोनों भाषाओं (संस्कृत और फ़ारसी) के बहुत से समान-स्वरूप शब्दों में स्पष्टतया मिलता है, इसलिये, इस मत की पुष्टि में, हम यहाँ संस्कृत और फ़ारसी के अर्थ और स्वरूप

---

* मौलाना वहीदुद्दीन साहब 'सलीम' का "उर्दू," जनवरी सन् १९२२ में प्रकाशित "तलमीहात" शीर्षक लेख।

मे समानता रखने वाले शब्दों की भी एक तालिका देना उचित समझते हैं। हिन्दी में फ़ारसी शब्दों के प्रयोग पर जो सज्जन आपत्ति करते हैं इसे भाषा का शील बिगाड़ने वाला अपराध समझते हैं वह इस तालिका को ध्यान की दृष्टि से देखने की कृपा करें कि इस दशा में फ़ारसी के शब्द भी अपने परिवार के नाते हिन्दी-शब्दों से मेल-जोल का मौरूसी और क़ुदरती हक़ रखते हैं।

संस्कृत से प्राकृत में होकर आये हुए हिन्दी के कुछ शब्द

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
आत्मीय	अप्पण	अपना
आत्मन्	अप्पाण, अत्ता, अप्पा	आप
हस्तः	हत्थो	हाथ
मुष्टिः	मुट्ठी	मुट्ठी
दृष्टिः	दिट्ठी	दीठ
बाहुः	बाहो	बाँह
हृदयं	हिअ, हिअअ	हिया
अक्षि	अच्छी, अच्छीइँ, अच्छ,	आँख
चक्षुः	चक्खू, चक्खुई	चख, चखन
लोचन	लोअणो, लोअँण,	लोयन
नयनं	णअणो, णअण	नैन
वचन	वअण (णो)	बैन
स्कन्धः	खंध	कधा
श्मश्रु	मसु, मस्सू	मस (मसैं भीगना)
जिह्वा	जीहा, जिभा	जीभ

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
अस्मदीय	अम्हारो (अपभ्रंश)	हमारा
द्वौ, द्वे	दुवे	दो
त्रय., त्रीणि	तिण्णि	तीन
चत्वार.	चउरो	चार
दश	दस, दह	दस
एकादक	एआरह	ग्यारह
द्वादश	बारह	बारह
त्रयोदश	तेरह	तेरह
चतुर्दश	चोद्दह, चउद्दह	चौदह
चतुर्दशी	चोद्दसी, चउद्दसी	चौदस
पञ्चदश	पण्णरह	पन्द्रह
अष्टादश	अट्ठरह, ठारह	अठारह
विंशतिः	बीसा	बीस
त्रिंशत्	तीसा	तीस
त्रयोविंशति.	तेवीस	तेइस
त्रयस्त्रिंशत्	तेत्तीस	तेतीस
त्रिचत्वारिंशत्	तेअलीसा	तेतालीस
पञ्चाशत्	पण्णासा	पचास
त्रिपञ्चाशत्	तेवण्णा	तिरवन, तरपन
पञ्चपञ्चाशत्	पचावण्ण, पण्णपण्णा	पचपन
षष्ठः	छट्ठो	छठा
षष्ठी	छट्ठी	छटी-छट,
सप्तति.	सत्तरी	सत्तर
सप्तदश	सत्तरह	सत्तरह

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
शय्या	सेज्जा	सेज
प्रस्तरः	पत्थरो	पत्थर
कैवर्तः	केवट्टो	केवट
वर्त्ती	वट्टी	बत्ती
यष्टिः	लट्ठी	लाठी
पुष्कर	पोक्खर	पोखर
स्रोतः	सोत्त	सोत
सन्ध्या	सझा	साझ
वल्कल	वक्कल	बक्कल
चक्रं	चक्क	चक्का, चाक
रश्मिः	रस्सी, रासी.	रास
मुकुट	मउड	मौड़
मुकुलं	मउल	मौल
बाष्पः	बप्फो	भाप
अग्निः	अग्गी	आग
आम्रं	अम्ब	आम
मधूकं	महुअ, महूअं	महुवा
मलिन	मइल	मैला
मातृष्वसा	माउसिआ	मौसी
मूल्यं	मोल्ल	मोल
रात्रिः	रत्ती	रात
वातूल	वाउलो	बावला
लवणं	लोण, लअण	लोन
वाराणसी	वाणारसी	बनारस
विह्वलः	विह्लो	बिहाल (बेहाल)

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
वृश्चिकः	विच्छुओ	बिच्छू
शुक्तिः	सिप्पी	सीपी
शृङ्ग	सिंग	सींग
वृक्षः	रुक्खो (रुक्ख)	रूख
शृङ्खलं	संकलं	साकल
क्षारं	खार	खार
मृत्तिका	मट्टिआ	मट्टी
रुप्यम्	रुप्पं	रूपा
सूची	सुई	सुई
गर्त्त	गड्ड	गड्ढा
सत्य	सच्च	सच
विद्युत्	विज्जुला, विज्जू	बिजली
पत्तन	पट्टणं	पाटण, पाटन, (पाकपट्टन)
पर्याणं	पल्लाण	पालान, पलियान (काठी, चारजामा)
सूर्यः	सुज्जो	सूरज
स्तम्भं	खम्भं	खम्बा
हस्ती	हत्थी	हाथी
चौर्य	चोरियं	चोरी
श्मशानं	मसाणं	मसान
दोला	डोला	डोला
दण्डं	डंडो	डंडा
बिसिनी	भिसिणी	भिस, भसिंडा
शोभन	सोहणं	सोहना, सोहन

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
वापी	वाई	बावड़ी
शृङ्गारः	सिंगारो	सिंगार
घृणा	घिणा	घिन
निष्ठुरः	निठ्ठुरो	निठुर
मुद्गः	मुग्गो	मूँग
भक्त	भत्तं	भात
दुग्धं	दुद्ध	दूध
मुद्गरी	मुग्गरो	मूँगरी
सिंहः	सिंघो, सीहो	सींह
छाया	छाहा	छाँह
शपथः	सवहो	सौंह
नदी	णइ, नइ	नदी, नै (वैने चढती वार) बिहारी
सौभाग्यं	सोहग्ग	सुहाग
वृद्धः	वड्ढो	बूढा
पुस्तकं	पोत्थअ	पोथा, पोथी
करीषः	करिसो	करसी (कंडा)
शिरीषः	सिरिस	सिरस
गभीरं	गहिर	गहरा
गुडुची	गलोई	गिलोय
दवाग्निः	दवग्गी, दावग्गी	दवागि, दौं
ग्रन्थिः	गंठी	गाँठ
अग्रतः	अग्गओ	आगे
सम्मुखं	समुह, संमुह	समुहै, सामने
पङ्क्तिः	पंत्ती	पाती, पाँत

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
पुच्छ	पुच्छं	पूंछ
अन्धकारः	अंधआरो, अधारो	अधेरा
कुंम्भकारः	कुम्भारो; कुम्भआरो	कुम्हार
हरीतकी	हडडई, हरडई	हरड़, हैड़
तडागः	तलाओ	तलाव
शफरी	सभरी	सहरी (मछली)
पश्चिमं	पच्छिमं	पछाँ
पश्चात्	पच्छा	पीछे
वत्सः	बच्छो	बच्छा, बछड़ा
स्नानं	न्हाण	न्हान
पत्रं	पत्तलं	पत्तर, पत्तल
गृहं	घर	घर
दरः	डरो	डर
नप्ता	णत्तिओ	नाती
धुर्यः	धोरिओ	धोरी
देवकुल	देउल, देवउलं	देवल
राजकुल	राउल, राअउल	रावल
प्लक्षः	पलक्खो	पाखर
बलीवर्द	वइल्लो	बैल
भगिनी	भइणी, वहिणी	बहन (भैना)
कृष्णः	कण्हो, कसणो	कान्ह, किसन
स्नेहः	सणेहो, णेहो	नेह
यादृशः	जइसो	जैसा
तादृशः	तइसो	तैसा
अन्यादृश	अवराइसो	और सा

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
इयत्	एत्तिश्र	इत्ता, एता, (इतना)
कियत्	केत्तिश्र	केता (कित्ता, कितना,
यावत्	जेत्तिश्रां	जेता (जित्ता, जिनता)
एतावत्	इत्तिश्रं	एता (इत्ता, इतना)
प्रभूतं	बहुल	बहुत
पाटयति	फाडेइ	फाड़ता है
दशति	डसइ	डसता है
स्वपिति	सोवइ	सौव है, सोता है
कथय	कहेहि	कह, कहो
गतः	गश्रो	गयो (गया)
शोभते	सोहइ	सोहता है (सुहाता है)
श्राचक्षते	श्रक्खइ	श्राखता है, (कहता है)
दहति	डहई	डहता है (श्री जलता है)

संस्कृत और फारसी के ममतासूचक शब्द

एक	یک	विंशति	بست
द्वि	دو	त्रिंशति	سی
त्रि	سه	चत्वारिंशत्	چهل
चतुर्	چار' چهار	पञ्चाशत्	پنجاه
पंच	پنج	षष्टि	شصت
षट्	شش	सप्तति	هفتاد
सप्त	هفت	अशीति	هشتاد
अष्ट	هشت	नवति	نود
नव	نه	शत्	صد' سد
दश	ده	सहस्र	هزار

जलौका	رلو، رلوک	दन्त	دند
कुब्ज	کور	जिह्वा	زبان
नेदस (पास, नेड़े)	نزد	गल	گلو
कर्पास (कपास)	کرپاس	दोषन् (कधा)	دوش
कुम्भ	خم، خنب	ग्रीवा (गर्दन)	گرے
दारु	دار	हस्त	دست
शाखा	شاخ	मुष्टिक	مشت
देवदारु	دیودار	अंगुष्ठ	انگشت
दूर	دور	पृष्ठ	پشت
ऋजु (सीधा)	راست	कुक्षि (कोख)	کش
पितृ	پدر، باپ	नाभि	ناف
मातृ	مادر، ماں	श्रोणि	سرین
भ्रातृ	برادر	पाद	پاے
श्वश्रू (सास)	خواہر	अश्रु	اشک
पुत्र	پور	चम	چرم
दुहितृ	دختر	श्वेत	سپید
जामाता	داماد	श्याम	سیاہ
श्वसुर	خسر	शोण	خون
जननी, जनी	زن	कपि	کپی
अर्घ (मूल्य)	ارز	गौ	گاو
ज्या—ज्मा	زمین	महिष (भैंस)	میش (گاو میش)
शिरः	سر		
बाहु	بازو	अश्व	اسپ
जानु	زانو	खर	خر
तालुक (तालू)	تارک	उष्ट्र	شتر
चक्षु	چشم	मेष (भेड़)	میش

शुनक (कुत्ता)	سگ	तारा	- تارا
शृगाल	شغال، شگال	क्षपा(रात्रि)	شب
शूकर	خوک	वात (हवा)	باد
मूषक	موش	ग्रीष्म	گرمی
मक्षिका	مگس	हुताशन	آتش
काक	کلاغ (زاغ)	धूम (धुआँ)	دود
चटिका (गौरैया)	چٹوک، چغوک	मिहिर (सूर्य)	مہر
कुलाल (कुम्हार)	کلال	अंगार	انگارہ
जङ्गल	جنگل	मेघ	میغ
ग्रास	گراس	वर्षा	بارش
सर्षप (सरसों)	سرشف	वर्षकाल	برشکال❀
नीलोत्पल	نیلوفر	कच्छप	کشف
खनि (खान)	کان	गोधूम	گندم
शकुन	شگون	माष (उड़द)	ماش
आपत्	آفت	व्रीहि (चावल)	برنج
शुष्क	خشک	शालि (धान)	شالی
जाल	جال	क्षीर	شیر
हलाहल	هلاهل	आहार	آهار
गज (ख़ज़ाना)	گنج	आर्द्रक	ادرک
महत्तर	مهتر	शर्करा	شکر
चक्र	چرخ	कर्पूर	کافور
स्थान	استان	सुमन	سمن (خاص پھول)
सूर, सूर्य	خور، هور (سورج)	दाम	دام

❀ بر شکال اے بہار ہندوستاں—اے نجات ار بلاے تابستاں—
(مسعود سعد سلیمان)

स्नान	شنا (تیرنا)	अये	اے
अधिकार	اختیار	हिंगु	انگوزه
ग्राम (गाँव)	گام	अर्क	اکرا
कपोत	کبوتر	अजगर	اژدہ
तृष्णा (प्यास)	تشنه (پیاسا)	वापी	وائیں یا واے
नर	نر	अस्थि	استه، هسته
नाम	نام	आप	آب
नील	نیل (رنگ)	मकरमत्स्य	مگر مچھه
चन्दन*	صندل	ढक्का (ढोल)	دهل
शृङ्गवेर (सोंठ)	زنجبیل	अहिफेन	افیون، اپیون، هپیون
जीरक	زیره	वेत्र (बेत)	بید
त्रास	ترس	चाण्डाल	چندال
महत्	مه	विधवा	بیوا

इत्यादि, इत्यादि, बहुत से शब्द है जो फारसी और सस्कृत में समानार्थक और समानरूप के हैं। किसी शब्द मे देशभेद और उच्चारण-भेद से कुछ अन्तर पड़ गया है। सस्कृत और फारसी दोनों एक ही आर्य परिवार की कन्याएँ हैं, इसलिए यह समानता कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इस समय हिन्दी मे फारसी के अनेक शब्द जो तत्सम या तद्भवरूप मे प्रचलित हो गये हैं, उनके वहिष्कार की चेष्टा करना भाषा के भण्डार को रीता करना है।

हिन्दी और पुराने मुसलमान

हिन्दी और उर्दू पहले एक थीं, दोनों जातियों ने मिलकर हिन्दी उर्दू साहित्य का निर्माण किया। मुसलमानों मे अनेक हिन्दी कवि हुए

* पहले फ़ारसी मे भी 'चन्दन' ही था। 'फरु'खी' और 'मनुचेहरी' के यहाँ चन्दन ही है।

तो हिन्दुओं मे बहुत से उर्दू के लेखक और कवियो ने उर्दू का साहित्य वृद्धि की। हिन्दू अब भी उर्दू की बहुमूल्य सेवा कर रहे है, पर मुसलमान हिन्दी की ओर से उदासीन हैं। हिन्दुओं के लिए उर्दू के विरोध का और मुसलमानों के लिए हिन्दी की मुखालफत का कोई कारण या सबब नहीं है, सिर्फ समझ का फेर है।

एक गुरु के दो चेले थे, दोनों ने गुरु के दोनों चरणों की सेवा आपस मे बाँट ली थी। एक ने दहिने पैर की सेवा का भार लिया, दूसरे ने बाँये पैर की। एक दिन बायाँ पाँव दहिने पैर के ऊपर आ गया। इससे नाराज़ होकर दहिने पाँव का सेवक डंडा उठा कर बाँये पाँव की सेवा करने लगा और बाँये पाँव का सेवक दहिने की पूजा इसी तरह करने लगा! कुछ ऐसा आचरण आजकल उर्दू के हिमायती और हिन्दी हितैषी भक्त कर रहे हैं। यह भाषा का और देश का दुर्भाग्य है। जिस तरह शिक्षित हिन्दू उर्दू को अपनाये हुए हे मुसलमानो को चाहिए कि वह भी हिन्दी की ओर हाथ बढावें। मुसलमान भाइयों ने भूल से उसे हौआ समझ लिया है। लिपिभेद आदि के कारण जो भेद हिन्दी और उर्दू में हो गया है, उसे अब अधिक बढाना उचित नहीं है। हिन्दी लेखक प्रचलित और आमफहम फारसी शब्दों का, जो उर्दू मे आ मिले हैं, और सूक्तियों का व्यवहार करना बुरा नहीं समझते, पर उर्दू-ए मुअल्ला के पक्षपाती ठेठ हिन्दी शब्दों को चुन चुन कर उर्दू से बराबर बाहर कर रहे हैं। प्रचलित हिन्दी शब्दों की जगह ढूढ ढूँढ कर नये अरबी और तुरकी शब्दों की भरती की जा रही है। उर्दू का कायाकल्प किया जा रहा है। यह अच्छे लक्षण नहीं हैं, भाषा के मामले में कट्टरपन का भाव किसी को भी शोभा नहीं देता।

बादशाह औरंगज़ेब का मज़हबी जोश मशहूर है। मजहब के मामले मे वह बड़े कट्टर थे, मगर भाषा के बारे मे वह भी उदार थे। उनके दरबार मे हिन्दी कवि रहते थे। औरंगज़ेब खुद भी हिन्दी के प्रमाण

सस्कृत में भी शायद उन्हे कुछ दख़ल था। इसके सबूत में उनकी एक तहरीर पेश करता हूँ—

औरंगज़ेब के पत्रों का सग्रह जो 'रुक्क़आते-आलमगीरी' के नाम से फारसी में छपा है, उसमे एक रुक्का (न० ८) बादशाहज़ादा मुहम्मद आज़म बहादुरशाह के नाम है। इन शाहज़ादे ने कहीं से ख़ास आमों की डाली बादशाह के हुज़ूर में भेजी है, और उन आमों का नाम रखने के लिए बादशाह सलामत से इस्तदुआ की है। उसके उत्तर में बादशाह लिखते हैं—

"फ़र्ज़न्द आली-जाह, डाली अम्बा मुर्सले-आ फर्ज़न्द बज़ायक़े पिदर-पीर ख़ुश गवार आमदे, बराय-नाम अम्बए-गुम नाम इस्तदुआ ममूदा अन्द, चू आ फर्ज़न्द जूदते-तबा दारन्द, रवा दार तकलीफे-पिदर-पीर चरा मी शवन्द, बहर हाल 'सुधा-रस' वो 'रसना विलास' नामीदा शुद।"

इस रुक्के के लफ्ज़ 'डाली' और आमों के नाम 'सुधारस' और 'रसना विलास' पर ज़रा ध्यान तो दीजिए। 'डाली' लफ्ज़ फारसी का नहीं है, फिर भी औरगज़ेब जैसे ज़बरदस्त मुन्शी ने उसका जगह अरबी या फारसी लफ्ज़ गढ कर या चुनकर नहीं रक्खा। जो बोल चाल मे था, वही रहने दिया। आमों के नाम तो उन्होंने इस कमाल के रक्खे हैं कि क्या कोई रक्खेगा। 'सुधारस' और 'रसना विलास' क्या मीठे नाम हैं! सुनते ही मूँह मे पानी भर आता है। ये नाम बादशाह के भाषा-विज्ञान और सहृदयता के सच्चे साक्षी हैं। आम हिन्दुस्तान का मेवा है, फारसी या तुर्की नाम उसके लिए मुनासिब नहीं, यही समझ कर बादशाह ने यह रसीले भारतीय नाम तजवीज़ किए।

जो लोग देशी चीज़ों के लिए भी विदेशी या विलायती नाम ढूढने में सारी लियाक़त ख़र्च कर डालते हैं, या वह लेखक, जो नई-नई परिभाषाएँ अपनी भाषा मे लाने के लिए क़ाहरा और क़ुस्तुन्तुनिया के

अख़बारों के फ़ाइल टटोलते रहते हैं, इससे शिक्षा ग्रहण करें तो भाषा पर बड़ी दया करें।

औरंगज़ेब की पुत्री श्रीमती शाहजादी ज़ेबुन्निसा बेगम ने जो फ़ारसी की कवि थी हिन्दी में 'नैन-विलास' नामक कविताग्रन्थ की रचना की थी जिसका अन्तिम दोहा यह बतलाया जाता है—

ज़ेबुन्निसा जहान में, दुख्तर आलमगीर।
नैन विलास विलास में, ख़ास करी तहरीर॥

बादशाह औरंगज़ेब के बड़े भाई शाहज़ादा दाराशिकोह का हिन्दू दर्शनशास्त्र (फिलसफ़ा) और उपनिषदों का प्रेम प्रसिद्ध ही है, वह तो इस पर बलिदान ही हो गये।

उर्दू के ही नहीं बल्कि पहले फ़ारसी के बड़े बड़े मुसलमान कवियों ने हिन्दी में कविता की है। हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली के आदिम कवि अमीर खुसरो माने जाते हैं। उनकी हिन्दी कविता के जो थोड़े-बहुत नमूने पहेली और कहमुकरनी आदि के रूप में बच रहे हैं वही खड़ी बोली की कविता का सबसे पुराना नमूना समझा जाता है। बाद के भी अनेक मुसलमान विद्वानों ने हिन्दी में कविता की है, जिनमें मलिक मुहम्मद जायसी, अब्दुर् रहीम ख़ानख़ाना ('रहीम' या 'रहमन') मुख्य हैं। रहीम संस्कृत के भी अच्छे कवि थे।* जायसी का स्थान पुराने हिन्दी कवियों में बहुत ऊँचा है। मीर ग़ुलाम

---

* 'रहमन' की संस्कृत-कविता के कुछ नमूने सुनिये—

"रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणी च पद्मा, किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधा गृहीत मनसेऽमनसे च तुभ्यं, दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण॥"

"अहल्या पाषाणः प्रकृति पशुरासीत्कपि चमू—
र्गुहोऽभूच्चाण्डालस्त्रितयमपि नीतं निज पदम्।

अली आज़ाद' बिलग्रामी के फारसी तज़करे "सर्वे आज़ाद" में एक अध्याय बिलग्राम के हिन्दी कवियों के सम्बन्ध में है, जिसमें बिलग्राम के मुसलमान हिन्दी कवियों की कविता के उदाहरण भी दिये हुए हैं। आज़ाद बिलग्रामी अरबी-फारसी के जय्यद आलिम और शाइर थे। उन्होंने ख़ुद तो हिन्दी में कविता नहीं की, पर वे थे हिन्दी-कविता के पूरे पारखी। उन्होंने अपने हिन्दीप्रेम का सगर्व उल्लेख किया है। कहीं कहीं किसी किसी कविता पर उन्होंने जो नोट दिये हैं, उनसे उनकी हिन्दी मर्मज्ञता का पता चलता है, जैसा कि 'पूरन रस' के प्रणेता दीवान सय्यद रहमतुल्ला और 'कविता-विचार' के रचयिता चिन्तामणि

अहं चित्तेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणे,
क्रियाभिश्चाण्डालो रघुवर ! न मामुद्धरसि किम् ॥
"अच्युत-चरण-तरङ्गिणी, शशि-शेखर मौलि-मालती माले ?
मम तनु वितरण-समये, हरता देया न मे हरिता ॥"

पर्यायोक्त अलङ्कार को उदाहरणस्वरूप यह सुन्दर सूक्ति भी रहीम ही की कही जाती है—

"आनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण ! या भूमिका,
व्योमाकाश खखाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि।
प्रीतो यद्यसि तां निरीक्ष्य भगवन् मत्प्रार्थितं देहि मे,
नोचेद्ब्रूहि कदापि मानय पुनर्मा मीदृशीं भूमिकाम् ॥"

रहीम की इन संस्कृत रचनाओं को सुनकर कौन कह सकता है कि यह कल्पना किसी परमपौराणिक हिन्दू भक्तकवि की नहीं है। रहीम का यह दोहा भी भक्ति-रस में शराबोर है—कैसी अद्भुत उत्प्रेक्षा है:—

"धूर धरत निज सीस पै कहु रहीम किहि काज।
जिहि रज मुनि पतनी तरी सो ढूंढ़त गजराज ॥

(भूषण और मतिराम के भाई) के प्रसङ्ग में अनन्वयालङ्कार' की बड़ी सुलझी हुई व्याख्या फारसी मे उन्होंने की है। गुलाम नबी के 'रस-प्रबोध' पर भी कुछ टिप्पणियाँ उन्होंने दी हैं। हिन्दी के नवरसों पर भी उन्होंने फारसी मे अच्छा प्रकाश डाला है।

दीवान सैयद रहमतुल्ला के बारे में 'आजाद' ने लिखा है, हिन्दी के बड़े विद्वान् थे। जब वह जाजमऊ में हाकिम की हैसियत से रहते थे, तब चिन्तामणि का एक शिष्य उनके हिन्दी-प्रेम की प्रशसा सुनकर उनके दरबार मे गया, और चिन्तामणि का अनन्वयालङ्कार का यह दोहा उन्हे सुनाया :—

"हियो हरत अरु करति अति 'चिन्तामणि' चित चैन।
वा मृग-नैनी के लखे वाही के से नैन।"

दोहा सुनकर दीवान रहमतुल्ला ने कहा कि यह अनन्वयालङ्कार नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें नायिका को 'मृगनैनी' कहा गया है, जिससे उसकी आँखों की उपमा हिरन की आँखों मे सिद्ध है। चिन्तामणि के शिष्य ने यह बात जाकर चिन्तामणि को सुनाई। चिन्तामणि ने इस आक्षेप को ठीक समझ कर अपने दोहे के उत्तरार्द्ध के प्रथम चरण का पाठ इस प्रकार बदल दिया :—

"वा सुँदरी के मै लखे वाही के से नैन।"

सैयद रहमतुल्ला की काव्य-मर्मज्ञता से आकृष्ट होकर चिन्तामणि स्वय दीवान से मिलने गये। बहुत दिन तक उनके दरबार मे रहे। यह कथा आज़ाद ने 'सर्वे-आज़ाद' म विस्तार से लिखी है और सय्यद रहमतुल्ला के 'पूरन रस' से बहुत से दोहे अपनी किताब मं उद्धृत किये हैं।

मीर गुलाम अली आज़ाद ने हिन्दी कविता की दिल खोलकर दाद दी है। उसमे 'रस-प्रबोध' और अङ्ग-दर्पण' के प्रणेता सय्यद

गुलाम नबी 'रस-लीन' की एक किताब 'नायिकावर्णन,' जो उर्दू में रुबाई छन्द में है, उसके भी दो उदाहरण दिये हैं। उसकी ज़बान रेख़्ता यानी उर्दू है, लेकिन सुर्ख़ी (शीर्षक) हिन्दी में दी है— 'स्वकीया'। उसका उदाहरण यह है :—

"अज़ बस कि हयादोस्त है वो मायए-नाज़,
इस तरह सूँ है उसके सुख़न का अन्दाज़,
ख़ामे की ज़बाँ सूँ जूँ निकलते हैं हरफ़,
पर कान तलक नहीं पहुँचती आवाज़।"

दूसरा शीर्षक है 'विश्रब्ध नवोढ़ा'। इसके उदाहरण की रुबाई है :—

"आये हैं अगर्चे ख़ुब अय्यामे-शबाब,
पर कुछ उसका छुटा है अब ख़ौफ़ो हिजाब,
तदबीर किये रही है यूँ नायक पास,
जूँ आग में ज़ोर से दवा के सीमाब।"

पैग़म्बर की प्रशंसा (نعت) में उनका एक हिन्दी छन्द भी दिया है:—

"नूर अल्लाह तें अव्वल नूर मुहम्मद को प्रगटो सुभ आई,
पाछें भए तिहूँ लोक जहाँ लगि औ सब सृष्टि जो दृष्टि दिखाई।
आदि दलील सो अन्त की कहिये 'रसलीन' जो बात भई मन पाई,
तो लों न पावे अल्लाह को किहूँ जो लों मुहम्मद में न समाई॥

हिन्दी का वह प्रसिद्ध दोहा, जो बहुत दिनों तक 'बिहारी' की रचना समझा जाता रहा, और अब तक बहुत से लोग भूल से ऐसा ही समझते हैं, पण्डित रतननाथ 'सरशार' ने अपनी किताबों में उद्धृत करके जिसकी बेहद दाद दी है, जिसके सहारे उन्होंने हिन्दी-कविता को जी खोलकर सराहा है, आप सुनकर प्रसन्न होंगे, वह दोहा बिहारी

का नहीं, सय्यद ग़ुलाम नबी 'रसलीन' बिलग्रामी के 'अङ्ग-दर्पण' का है :—

"अमी हलाहल मद-भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुक-झुक पर जेहि चितवत इक बार॥"

'रसलीन' के अतिरिक्त मीर अब्दुलवाहिद 'ज़ौक़ी,' मुहम्मद आरिफ़, मीर अब्दुल्‌जलील 'जलील्', सय्यद निज़ामुद्दीन 'मधुनायक,' सय्यद बरकतुल्ला 'प्रेमी,' की कविताओं के नमूने भी दिये हैं। बिल-ग्राम मुसलमान हिन्दी कवियों का गढ़ रहा है। आज़ाद ने जिन हिन्दी-कवियों का उल्लेख 'सर्वे-आज़ाद' में किया है, उनके अतिरिक्त भी वहाँ और बहुत से मुसलमान हिन्दी-कवि हुए हैं; जैसे 'अलक-शतक' के लेखक सय्यद मुबारकअली 'मुबारक' आदि।

इबराहीम 'रसखान' से कौन हिन्दी जाननेवाला अपरिचित है। उनके इस सुन्दर सवैये को सुनकर कौन ख़्याल करेगा कि यह एक मुसलमान कवि के हृदय का उद्‌गार है:—

मानस हौं तो वही 'रसखान' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन,
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन;
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयौ करि छत्र पुरन्दर धारन,
जो खग हौं तो बसेरौ करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

'रसखान' आदि कृष्णभक्त मुसलमान कवियों की भक्तिभावभरी कविता पर मुग्ध होकर 'भक्तमाल' के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने सच ही लिखा है—

"इन मुसलमान हरि-जनन पै कोटिन हिन्दुन वारिये।"

उर्दू के मशहूर मौजूदा शाइर हज़रत 'हसरत' मुहानी ने

प्रेम का रोग लगाइ-क 'हसरत'
राग-रंग सब दीन्ह त्याग।

मनमोहन श्याम से०

[३]

मन लागी प्रेम के जोग की चाट,
रंग-भभूत बसे ब्रज घाट।
श्यामनगर की भीख भली है,
का कीबे लै राजपाट ?

मन लागी०

फूलन सेज बिसारि के 'हसरत'—
कमरी ओढ़ि बिछावत टाट।

मन लागी०

[४]

कासे कही नहिं चैन बनवारी बिना ?
रोय कटे रैन मुरारी बिना।
कोऊ जतन हिया धीर न धारे,
नींद न आवे नैन गिरधारी बिना।

कासे कही०

देखु सखी! कोऊ चीन्हत नाहीं,
अब 'हसरत' ह्वै गैन विहारी बिना।

कासे कही०

[२]

तुम बिन कौन सुने महराज !
राखो बाँह गहे की लाज ।
ब्रजमोहन जब मिले, मन बसे,
हम भूलिन सब काम काज ।

तुम बिन०

भूलि कुराज सुराजहिं 'हसरत'—
प्रभु सों माँगत प्रेमराज ।

तुम बिन०

उपसंहार और अपील

हिन्दी उर्दू या हिन्दुस्तानी के नामभेद और स्वरूपभेद के कारणों पर विचार हो चुका। इनकी एकता और उसके साधनों का निर्देश भी किया जा चुका। जिन कारणों से भाषा में भेद बढ़ा, उनका दिग्दर्शन भी, सक्षेप और विस्तार के साथ हो गया। हिन्दी और उर्दू के सम्बन्ध में दोनों पक्ष के बड़े बड़े विद्वानों की सम्मितियाँ सुन चुके। इन सब बातों का निष्कर्ष यही निकला कि प्रारम्भ में हिन्दी उर्दू दोनों एक ही थीं, बाद को जब व्याकरण, पिङ्गल, लिपि और शैली भेद आदि के कारण दो भिन्न दिशाओं में पड़कर यह एक दूसरे से विलकुल पृथक् होने लगीं, तो सर्वसाधारण के सुभीते और शिक्षा के विचार से इनका विरोध मिटाकर इन्हें एक करने के लिए भाषा की इन दोनों शाखाओं का संयुक्त नाम 'हिन्दुस्तानी' रक्खा गया। इसी अन्तिम ध्येय को सामने रखकर "हिन्दुस्तानी एकेडमी" क़ायम हुई है, जैसा कि उसके नाम और सिद्धान्तो से प्रकट है। भाषा की एकता के लिए हिन्दुस्तानी

एकेडमी का यह उद्योग प्रशंसनीय है। यदि एकेडमी इन दोनों को एक करने में समर्थ हो सकी, तो हिन्दुस्तान पर उसका बड़ा उपकार और अहसान होगा। कुटुम्ब के बटवारे की तरह भाषा का यह बटवारा भी कुटुम्ब-कलह और सम्पत्ति-विनाश का कारण है, बहुत से सम्पन्न घराने बटवारे की बदौलत टुकड़े टुकड़े होकर बिगड़ गये, राज-परिवार भिखारी बन गये। ज़मीदारों और ताल्लुकदारों को इस विपत्ति से बचाने की गवर्नमेंट ने अवध में एक ऐसा क़ानून बना दिया है कि ज़मींदारियाँ और ताल्लुके तक़सीम न हो सकें और बरबाद होने से बचे रहें। हिन्दुस्तानी एकेडमी की ऐसेम्बली भी हिन्दी उर्दू-परिवार के लिए कोई ऐसा ही क़ानून या नियम बना सकी, जिससे यह दोनों, विभक्त न हो सकें, तो भाषा के इस कुटुम्ब पर बड़ा अनुग्रह होगा। यदि हिन्दी उर्दू दोनों संयुक्त परिवार की दशा में आ जाएँ तो फिर इसकी साहित्य-सम्पत्ति का संसार की कोई भाषा मुक़ाबिला न कर सके।

हिन्दी उर्दू का भण्डार दोनों जातियों के परिश्रम का फल है। अपनी अपनी जगह भाषा की इन दोनों शाखाओं का विशेष महत्त्व है। दोनों ही ने अपने अपन तौर पर यथेष्ट उन्नति की है। दोनों ही के साहित्य भण्डार में बहुमूल्य रत्न सञ्चित हो गये हैं और हो रहे हैं। हिन्दीवाले उर्दू साहित्य से बहुत कुछ सीख सकते हैं। इसी तरह उर्दू वाले हिन्दी के ख़ज़ाने से फ़ायदा उठा सकते हैं। यदि दोनों पक्ष एक दूसरे के निकट पहुँच जायँ और भेद बुद्धि को छोड़कर भाई भाई की तरह आपस में मिल जायँ तो वह ग़फ़लत फ़हमियाँ अपने आप ही दूर हो जायँ, जो एक से दूसरे को दूर किये हुए हैं। ऐसा होना कोई मुश्किल बात नहीं है। सिर्फ़ मज़बूत इरादे और हिम्मत की ज़रूरत है, पक्षपात और हठ-धर्मी को छोड़ने की आवश्यकता है। बिना एकता के भाषा और जाति का कल्याण नहीं। इस बारे मे हज़रत 'अकबर' ने जो चेतावनी दी है,

उसे सुनाकर, उस पर अमल करने के लिए आपसे अपील करता हूँ और बस करता हूँ—

"उर्दू में जो सब शरीक होने के नहीं,
इस मुल्क के काम ठीक होने के नहीं।
मुमकिन नहीं शेख़ 'अमरुल् क़ैस' बने,
पण्डित जो बाल्मीक होने के नहीं॥"*

महाशिवरात्रि, शनिवार
संवत् १९८८
(५-३-३२)

पद्मसिंह शर्मा

---

* यहाँ उर्दू से मुराद एक मुश्तरका ज़बान 'हिन्दुस्तानी' से है—चाहे उसे उर्दू कहो या 'हिन्दी'।